पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका
अंक : 23 जुलाई-अगस्त 2009

संपादक
भारत भारद्वाज

समन्वयक
राकेश श्रीमाल

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता

अंक : 23, जुलाई-अगस्त 2009

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, पंचटीला, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

© सम्बन्धित लेखकों द्वारा
पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र दिल्ली।

यह अंक : 20 रु.
वार्षिक सदस्यता : 120 रु.
दिल्ली से बाहर चेक के लिए वार्षिक 145 रु. और द्वैवार्षिक 265 रु./- मनीआर्डर स्वीकार्य नहीं। चेक/डॉफ्ट कृपया क्षेत्रीय केंद्र, म.गां. अ.हि.वि., नई दिल्ली के नाम से भेजें।

बिक्री और वितरण केन्द्र
प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेज-II, नई दिल्ली-110020
टेली-011-26387365 E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com

संपादकीय संपर्क
क्षेत्रीय केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय,
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेज-II, नई दिल्ली-110020
टेली-011-41613875
मो.-09313034049 E-mail : bhardwaj_bharat@yahoo.com

PUSTAK-VARTA
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Post Manas Mandir, Panchtila, Wardha-442001 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण-सज्जा : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय		५
मैं और पुस्तकें	: **पुस्तकों से मेरे सम्बन्ध कई प्रकार के हैं** / कांतिकुमार जैन	७
उपन्यास	: उधर के लोग / **अजय नावरिया** **दलित आत्मकथा लेखन का एक नया द्वार** / शंभु गुप्त	११
उपन्यास	: सुलताना रज़िया बेगम / **किशोरीलाल गोस्वामी** **'रजिया बेगम' का पुनः प्रकाशन** / राजकुमार सैनी	१४
कहानी	: प्रतिरोध / **शैलेन्द्र सागर** **नैतिक संशय का द्वन्द्व** / सुशील सिद्धार्थ	१६
कहानी	: बॉस की पार्टी / **संजय कुंदन** **व्यवस्था की तुरपनें उधेड़ती कहानियाँ** / नुरुद्दीन मुहम्मद परवेज	१८
कहानी	: शहतूत / **मनोज कुमार पाण्डेय,** डर / **विमल चन्द्र पाण्डेय** **संकटग्रस्त समाज के बीच 'डर' के कारणों की पहचान** / क्षितिज शर्मा	१९
कविता	: अम्मा से बातें और कुछ लम्बी कविताएँ / **भगवत रावत** **दुःख का दर्शन नहीं, अनुभूति** / रेवती रमण	२३
आलोचना	: प्रतिबद्धता के बावजूद / **राजेन्द्र कुमार** **प्रतिबद्धता के ओर-छोर** / हरिमोहन शर्मा	२६
संस्कृति-समाज	: सर्वहारा रातें / **ज़ाक रॉंसिएर** **सर्वहारा रातों के सपने** / सुभाष शर्मा	२९
संस्कृति-समाज	: मुस्लिम मन का आईना / **राजमोहन गांधी** **आईना : मुस्लिम मन का या हिन्दी मन का?** / प्रियम अंकित	३१
साक्षात्कार	: **धूप तरी तिरती कुहरे की झील में** / विजयशंकर मिश्र	३३
नेपथ्य	: लस्ट फॉर लाइफ / **इरविंग स्टोन** **व्यापार की दुनिया में वह आदमी प्यार का इंतज़ार करता था** / अशोक पाण्डे	३८
विरासत-एक	: **प्रेमचन्द की उपन्यास-कला** / जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'	४१
विरासत-दो	: **प्रेमचन्द : डॉ. रामविलास शर्मा**	४५
विरासत-तीन	: **'कफन' कहानी का पहला पाठ**	५७
स्मरण	: **एक कंठ विषपायी : पं. शिवचन्द्र शर्मा** / विद्याभूषण	६२
साहित्य-कोलाहल	: **कवि वोलेसोयंका : अफ्रीका की अन्तरात्मा** / प्रज्ञाचक्षु	६६
समय-जुलाहा	: **उन्होंने मौत को अंडरग्राउंड कर दिया** / कुबेर दत्त	७०

देशांतर	: ग्राब्रियल गार्सिया मार्केस : ए लाईफ / **गेराल्ड मार्टिन** **आधे सफर की आधी कहानी** / प्रभात रंजन	७३
फिल्म-वार्ता	: धुनों की यात्रा / **पंकज राग** **धुनों की अविस्मरणीय यात्रा** / मुकेश कुमार	७६
आगमन	: सही नाप के जूते / **लता शर्मा** **देह के बाजार होने की गाथा** / अनंत विजय	७९
प्रतिध्वनि	: **पत्र-प्रतिक्रिया**	८१

अनुरोध

प्रकाशन के लिए सामग्री दो पंक्ति छोड़कर (डबल स्पेस) में सुस्पष्ट हस्तलिपि में या साफ टाइप की हुई होनी चाहिए। समीक्षा के लिए पुस्तकों का चुनाव हम स्वयं करते हैं इसलिए अयाचित समीक्षा या रचना न भेजें।

संपादक 'पुस्तक-वार्ता'

संपादकीय

मोहि तौ मेरे कवित्त बनावत

जैसे ही हम किसी व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ या साहित्यिक विधा को नाम देते हैं, उसकी पहचान को पुख्ता करने के लिए उसे हम परिभाषित भी करते हैं। यहाँ एक दिक्कत यह होती है कि कई बार परिभाषा के घेरे से वस्तु, पदार्थ या विधा बाहर रह जाती है। जहाँ तक कविता की बात है संस्कृत के काव्यशास्त्र के आचार्यों से लेकर डॉ. नामवर सिंह तक ने कविता को परिभाषित करने की कोशिश की है लेकिन कविता है कि हर बार मुट्ठी से बालू की तरह फिसल जाती है। जब से हिन्दी आलोचना का आरम्भ हुआ, कविता आलोचकों की चिन्ता के केन्द्र में रही। हिन्दी साहित्य के पहले व्यवस्थित आलोचक आ. रामचंद्र शुक्ल ने एक बार नहीं, बल्कि तीन बार 'कविता क्या है'? का ड्राफ्ट किया। पहले वाले ड्राफ्ट से दूसरे वाले ड्राफ्ट में फर्क है और दूसरे वाले से तीसरे ड्राफ्ट में फिर भी अपने भरसक उन्होंने कविता को परिभाषित करने की कोशिश की लेकिन कविता सम्पूर्णता में पूरी संवेदनशीलता के साथ उस परिभाषा में अंटी नहीं।

आ. शुक्ल न केवल सहृदय आलोचक थे बल्कि खुद भी कवि थे। यही कारण है कि रीतिकालीन कवियों में उन्होंने घनानंद को रीतिग्रंथकार कवियों में परिगणित नहीं किया है, उन्हें रीतिकाल के अन्य कवियों में शुमार किया है। लेकिन जिस हार्दिकता के साथ उनकी भाषा की व्यंजकता पर टिप्पणी की है, उस काल के किसी अन्य कवि पर नहीं। यह सर्वविदित हैं कि रीतिकाल के कवियों के बारे में अधिकांश हिन्दी आलोचकों की राय अच्छी नहीं है। यदि एक ओर उन्हें रीतिबद्धता से जुड़े होने के कारण खारिज किया जाता है तो दूसरी ओर राजाश्रय के कारण। लेकिन यह सच है कि रीतिकाल में लगभग आधा दर्जन ऐसे कवि हैं, जिनमें 'कवित्त' के साथ अपना समय और समाज भी है। यह अकारण नहीं है कि निराला जैसे कवि अपनी विक्षिप्तता में भी प्रायः देव और पद्माकर की कविता गुनगुनाया करते थे। हमें मानना पड़ेगा कि रीतिकालीन कविता में भरी-पूरी कविता है। यदि ऐसा नहीं होता तो शुक्लजी जैसा बौद्धिक और प्रखर आलोचक इस काल के कवियों पर इस तरह मोहित नहीं होता। खुद घनानंद ने कविता के बारे में लिखा है, 'लोग हैं लागि कवित्त बनावत/ मोहि तौ मेरे कवित्त बनावत।' लेकिन बदलते समय में कविता के साथ अधिकांश आधुनिक कवियों का सरोकार जिस तरह बदल गया है, उसे घनानंद की उपर्युक्त पंक्तियों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। आज के कवि धड़ल्ले के साथ कविता बना रहे हैं। कविता से उनकी पहचान नहीं हो रही है।

गौर करने की बात यहाँ यह है कि कविता की प्रकृति ही इस बीच नहीं बदली है बल्कि पाठकों की रुचि का भी विकास हुआ है। यह अकारण नहीं है कि कविता ने यदि अपनी सीमा का अतिक्रमण किया है तो दूसरी विधाओं ने भी। इस तरह साहित्यिक विधाओं की आवाजाही ने यदि एक तरफ एक खास विधा को जकड़बंदी से मुक्त किया है तो दूसरी ओर उसे जीवन और प्रकृति को समझने का खुला आमंत्रण भी दिया है। कवि कविता बनाता है या कविता कवि को बनाती है, यह सवाल सरल भी है और जटिल भी क्योंकि कविता में कवि और कवि में कविता बिल्कुल पड़ोसी की तरह रहते हैं।

कविता का असली घर कवि के घर से अलग नहीं होता। ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान कविता के दो ओर-छोर हैं लेकिन कविता बनती है संवेदनात्मक ज्ञान से ही। भारतीय भाषाओं के कवियों ने ही नहीं बल्कि आधुनिक विश्व के श्रेष्ठ कवियों ने भी यह प्रमाणित किया है कि अंततः कविता के केन्द्र में मनुष्य ही होता है और मानवीय संवेदनशीलता को बचाए रखने की चिन्ता सिर्फ कवि की ही नहीं कविता की भी होती है।

पिछले दिनों मैं जर्मन भाषा के कवि राइनेर मारिया रिल्के की कविताएँ पढ़ रहा था। सम्भवतः हिन्दी में सबसे पहले रिल्के की कविताओं का अनुवाद रामधारी सिंह दिनकर ने किया जो उनकी पुस्तक 'सीपी और शंख' में संकलित हुई थीं, अब अनुवाद की उनकी दूसरी पुस्तक 'आत्मा की आंखें' को मिलाकर संयुक्त नाम दिया गया है 'समानांतर'। दिनकर जी ने रिल्के की दो कविताओं के अनुवाद 'काढ़ लो दोनों नयन मेरे' तथा 'क्या करोगे देव! जिस दिन मैं मरूँगा' शीर्षक से किया है। उन्होंने जिस तरह कविताओं का अनुवाद किया, उन्हें देखकर यह लगता ही नहीं कि यह अनुवाद है। यही कारण है कि रूसी भाषा में प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका में इनकी दस अनूदित कविताएँ जो छपीं, उनमें चार-पाँच वे थीं जो इनके द्वारा अनूदित थीं। दिनकरजी ने 'सीपी और शंख' की भूमिका (पटना, 4 जनवरी, 1964) में लिखा है–''इस तरह उन्होंने 'सीपी और शंख' की भी कई रचनाओं को मौलिक कृतियाँ मानकर रूसी में उनका अनुवाद कर डाला और ये अनुवाद काफी पसंद भी किए गए।''

रिल्के ने लगातार हिन्दी पाठकों, कवियों और आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने एक अपरिचित युवा कवि के पत्र के जवाब में 17 फरवरी, 1903 को पेरिस से लिखा–''तुमने पूछा है कि क्या तुम्हारी कविताएँ अच्छी कही जा सकती हैं? इस वक्त यह प्रश्न तुम मुझसे पूछ रहे हो। ऐसा ही कुछ इससे पहले तुमने औरों से भी पूछा होगा। पत्रिकाओं में भी कविताएँ भेजी होंगी। दूसरों की कविताओं से इनकी तुलना भी की होगी और किन्हीं संपादकों द्वारा लौटा दिए जाने पर तुम क्षुब्ध भी हुए होगे। अब (जबकि तुमने मुझे लिखा है कि तुम्हें मेरी राय की जरूरत है) मैं सचमुच तुमसे आग्रह करना चाहता हूँ कि तुम ऐसा करना बंद करो, क्योंकि तुम बाहर की ओर उन्मुख हो रहे हो, और यही वह कर्म है जो तुम्हें इस काल में नहीं करना चाहिए। कोई भी व्यक्ति न तो तुम्हें सिखा सकता है, न तुम्हारी मदद कर सकता है–कोई भी नहीं। ....अपने से पूछो कि यदि तुम्हें लिखने की मनाही हो जाए तो क्या तुम जीवित रहना चाहोगे?'' (पत्र युवा कवि के नाम : राइनेर मारिया रिल्के; अनुवाद राजी सेठ, से उद्धृत) स्पष्टतः रिल्के युवा कवि से पूछते हैं कि वह अपने से ही कविता लिखने या न लिखने का सवाल पूछे और यदि हाँ में उत्तर मिले तब ही वह कविता लिखे। आज जिस तरह की कविताएँ लिखी जा रही हैं, खासकर युवा कवियों द्वारा, उनमें न ठीक से कविता की परम्परा की समझ है और न कविता है। वे जल्दबाजी में कवि बनना चाहते हैं, घनानंद के कवित्त को भुलाकर। हिन्दी पत्रिकाओं के संपादक जिस तरह वैसे कवियों को छाप रहे हैं, उससे समकालीन कविता समृद्ध नहीं हो रही है, बल्कि कविता का कबाड़खाना बढ़ रहा है। अंत में मैं राकेश रंजन की एक छोटी कविता उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ–

प्रश्नोत्तर

'सोन चिरैया! सोन चिरैया!
उड़ने में कैसा लगता है?
मुफ्त नहीं बोलूँगी, भैया!
कहने का पैसा लगता है।'

मैं और पुस्तकें

पुस्तकों से मेरे सम्बन्ध कई प्रकार के हैं

कांतिकुमार जैन

पुस्तकों से पहिले मेरा परिचय हुआ पत्रिकाओं से। एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ। हिन्दी के आधुनिक साहित्य की एक बड़ी विशेषता यह रही है कि वह पुस्तकों के रूप में पाठकों तक पहुँचने के पहिले पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अधिकांशतः पाठकों तक पहुँच जाता है। हिन्दी में पुस्तकों के बारे में आम शिकायत यह है कि वे सही पाठकों तक सही वक्त पर नहीं पहुँच पातीं। ऐसी स्थिति में पत्र-पत्रिकाएँ साहित्य और पाठक के बीच एक बहुत बड़े सेतु का काम करती हैं।

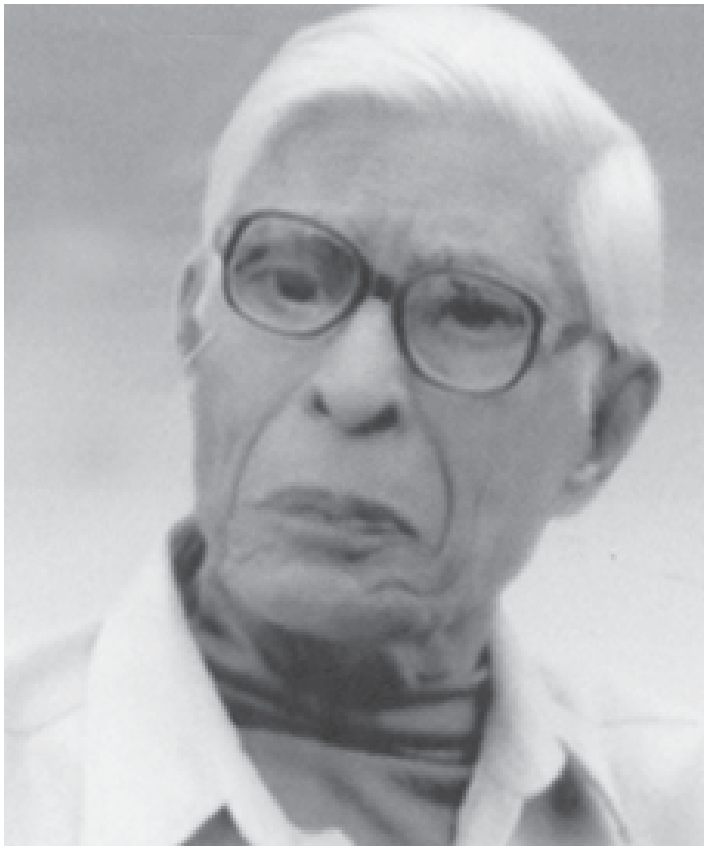

कांति कुमार जैन

मेरा बचपन बैकुंठपुर में बीता। सन् 1939 से 1948 तक। इस अवधि में बैकुंठपुर में तीसरी से ग्यारहवीं तक का छात्र रहा। बैकुंठपुर कहने को तो थी कोरिया रियासत की राजधानी पर निहायत छोटी-सी जगह—ऊँघती हुई। हण्ड्रेड माइल्स फ्रॉम नो ह्वेयर। दुर्गम, न रेल, न बारहमासी सड़कें। बिजली थी पर केवल राजमहल में। एक डाकघर था जिसमें 11 मील दूर के चिरगिरी रेलवे स्टेशन से रोज डाक आती-जाती। एक डाक हरकारे के माध्यम से। वही पत्र-पत्रिकाएँ लाता। राजधानी में कोई पुस्तकालय नहीं था। पुस्तकें पढ़ने के शौकीन दो-चार लोग ही थे। वे जब रायपुर या जबलपुर जाते, मनपसन्द पुस्तकें ले आते। हाँ, रामचरितमानस या सूरसागर प्रायः सभी शिक्षित हिन्दी भाषियों के यहाँ था। कुछ रसिकों के यहाँ बिहारी सतसई और गिरधर कविराय की कुंडलियाँ भी थीं। बाहर की साहित्यिक दुनिया से हमारा सम्पर्क पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही होता। सबसे अधिक पत्रिकाएँ हमारे यहाँ ही आतीं। सुकवि, सरस्वती, हंस, चाँद, माधुरी, विशाल भारत, कर्मवीर, शुभ चिन्तक, दीदी और वीणा। पिताजी कवि थे, 'जलज' उपनाम से कविता करते—इन सभी पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ छपतीं—'अन्तर्वेदना' के नाम से। बाद में जब हम लोग बड़े हुए तो पिताजी ने हम लोगों के लिए बाल सखा, खिलौना, मदारी, दूध बताशा, वानर जैसी पत्रिकाएँ भी मँगवानी शुरू कीं। वे हम लोगों को कविता करना सिखाते—'कृष्ण, कान्ति, जीतू मिलकर करने लगे विचार, पके-पके ये आम लगे हैं, कैसे पावें यार।' ये कविता लिखवाई तो थी पिताजी ने पर जब वह मेरे नाम से खिलौना में छपी तब मैं सातवीं का छात्र था। पत्रिका में मेरा नाम छपने से मैं दो-चार दिन हवा में उड़ता रहा था। बाद में मैंने अपने दो-तीन मित्रों—रामकृष्ण नेमा, बालकृष्ण नेमा के साथ मिलकर एक हस्तलिखित पत्रिका भी निकाली—'बाल जीवन' जिसके चार-पाँच अंक ही निकल सके। बैकुंठपुर की वह पहली पत्रिका थी। हम लोग उस पत्रिका में समस्या पूर्ति भी छापते। समस्या-पूर्ति का विचार हम लोगों को 'सुकवि' से मिला था। 'सुकवि' उन दिनों की काव्य रसिकों के बीच बड़ी लोकप्रिय पत्रिका थी। गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' उसके संपादक थे—खड़ी बोली और ब्रजभाषा के बड़े ही समर्थ कवि। वे 'त्रिशूल' उपनाम से राष्ट्रीयता में पगी कविताएँ भी लिखते। हिन्दी भाषा को, काव्योपयोगी बनाने में उनका योगदान श्रीधर पाठक, 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त से कम नहीं पर उनको समस्यापूर्ति का जुनून था। पिताजी की प्रेरणा से बैकुंठपुर में समस्या पूर्त्ति करने वालों का एक दल ही तैयार हो गया था जिसमें तेलुगू भाषी कृष्णाराव भी थे और बांग्ला भाषी सुनीति देवी राय भी। सुनीति देवी राय बांग्ला में कविता करती थीं। हिन्दी सीखने को उत्सुक थीं। तय हुआ कि मैं उन्हें हिन्दी की वर्णमाला से परिचित कराऊँगा और वे मुझे बांग्ला की वर्णमाला से। मैंने बांग्ला

में लिखी उनकी कुछ स्वरचित कविताएँ भी सुनी होंगी। उनकी स्वर-माधुरी और अभिव्यक्ति भंगिमा ने मुझे आकृष्ट किया होगा। मुझे सुपात्र जान एक दिन वे 'गीतांजलि' का बांग्ला संस्करण ले आईं–बांग्ला में गुरुदेव की 'मोहि ते चाई न आमि सुन्दर भुवने' जैसी पंक्तियाँ समझने में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। उनके श्रीमुख से मैंने पूरी गीतांजलि ही सुनी होगी। एक नया भावलोक, एक नया भाषा संसार मेरे समक्ष उद्घाटित हो रहा था। पहले ही रवीन्द्रनाथ के नोबेल पुरस्कार पाने की खबर ने तमाम दुनिया को चकित और विस्मित कर दिया था।

पर मैं सुनीति देवी के गुरु ऋण से उऋण होने के लिए क्या करूँ? तुम भी मुझे हिन्दी की किसी अच्छी काव्य पुस्तक के अंश सुनाओ। उन दिनों तक छायावादी कवियों की कविताओं से बैकुंठपुर वासियों का परिचय नहीं हुआ था। प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी हमारे लिए नए ही नाम थे। अभी भी बैकुंठपुर के कवि प्रेमी द्विवेदीयुगीन काव्य-परिवेश में साँसें ले रहे थे। 'यशोधरा' मैं पढ़ चुका था। उसका गद्य-पद्यमय चंपू रूप मुझे अच्छा लगा था। उसमें भावाकुलता भी थी और स्त्री-हृदय का ऊहापोह भी। बहुत चेतन भाव से तो नहीं, लगभग स्वस्फूर्त्ति से ही मैंने सुनीति जी को सुनाने के लिए मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' का चयन किया। मेरा वह चुनाव सही सिद्ध हुआ। सुनीति जी को 'यशोधरा' के माध्यम से हिन्दी कविता का ही नहीं, हिन्दी के गद्य का भी परिचय मिला और उन्हें 'यशोधरा' में 'गीतांजलि' की अनुगूँज सुनाई पड़ी। आखिर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को कबीर के काव्य में अपने हृदय की अनुगूँज सुनाई पड़ी थी कि नहीं? उन्होंने अपने हृदय की यही पुकार सुनकर कबीर के पदों का अंग्रेजी अनुवाद किया था–'हंड्रेड पोयम्स ऑफ कबीर' नाम से। अंडरहिल लिखित उसकी भूमिका रहस्यवादी काव्य का मर्म समझने के लिए आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी अपने लिखे जाने के समय थी।

अगले वर्ष गर्मी की छुट्टियों में पिताजी ने मुझे उर्दू सिखाने के लिए मास्टर कतवारू राय की ट्यूशन की व्यवस्था कर दी। मास्टर जी ने मुझे उर्दू की जिन कविताओं से परिचित कराया वे तो बिल्कुल हिन्दी जैसी थीं। उन्होंने नजीर अकबराबादी की रीछ का बच्चा, आगरे की तैराकी, बनजारानामा, रोटियाँ, बलदेव जी का मेला जैसी कविताएँ मुझे कंठस्थ करवा दीं। वे नजीर अकबरावादी की कुल्लियात भी ले आए। नजीर की कविताओं ने जैसे मेरे लिए लोक का तिलिस्म खोल दिया। मुझे नजीर इतने अच्छे लगे कि बाद में जब मैं सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का अध्यक्ष बना तो मैंने प्रकाश पण्डित द्वारा

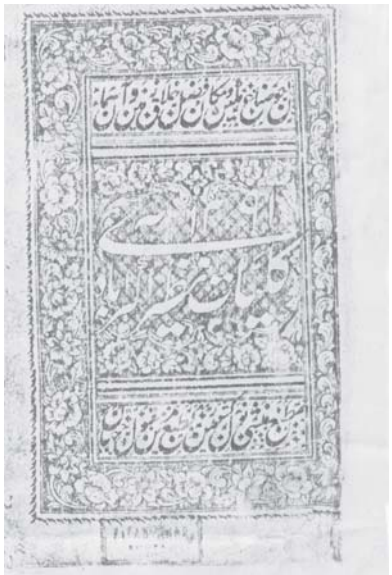

नवलकिशोर प्रेस, कानपुर में प्रकाशित कुल्लियाते नज़ीर अकबराबादी के सन् 1875 के नुस्खे का पहिला एडिट ।

संपादित नजीर अकबराबादी को तुलसी, सूर, जायसी के साथ एम.ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम में निर्धारित किया। जायसी का पद्मावत मैंने कई बार पढ़ा कई संस्करणों में पर जितनी तृप्ति मुझे डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा संपादित पद्मावत से हुई, उतनी किसी अन्य पाठ से नहीं। डॉ. अग्रवाल ने अपने सम्पूर्ण जीवनानुभाव एवं लोक विषयक अध्ययन का लाभ उठाकर उसकी जो संजीवनी टीका लिखी है, वह अद्भुत है। यह अकारण नहीं है कि साहित्य अकादेमी ने डा. अग्रवाल को इसी पुस्तक पर 1956 में पुरस्कृत किया था। बिहारी सतसई की जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने और विनय पत्रिका की वियोगी हरि ने जो टीकाएँ लिखी हैं वे कविता का ही अर्थ नहीं खोलतीं, हमारी परम्परा की जड़ों तक हमें ले जाती हैं। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने केशवदास का जो भाष्य लिखा है, वह केशव को कठिन भाष्य के प्रेत की योनि से उबारने वाला है। यदि मुक्तिबोध के काव्य का भी ऐसा ही

भाष्य लिखा जा सके तो उन्हें कठिन कवि, क्लिष्ट कवि, 'डिफीकल्ट पोयट' जैसे विरुदों से मुक्ति मिले।

हिन्दी में ग़ालिब पर जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं, उतनी हिन्दीतर किसी दूसरे कवि पर नहीं। 'उग्र', 'सुमन' और रामानुजलाल श्रीवास्तव की टीकाएँ इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। हिन्दी पाठकों के लिए रामानुज बाबू की 'महाकवि गालिब' एक अनिवार्य पुस्तक है।

रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संपादित 'कविता कौमुदी' से परिचय मेरे जीवन का निर्णायक मोड़ था। त्रिपाठी जी थे तो कवि पर उन्होंने

हिन्दी, उर्दू, बांग्ला, संस्कृत आदि की श्रेष्ठ कविताओं का संकलन कविता कौमुदी के आठ भागों में किया था। इसमें एक भाग ग्रामगीतों का भी था। कविता कौमुदी एक प्रकार से हिन्दी में 'गोल्डन ट्रेजरी' जैसा पहिला संकलन था। हिन्दी का बोलियों के लोक-काव्य के प्रति मेरा प्रेम कविता कौमुदी में संकलित ग्राम गीतों को पढ़कर ही पुष्ट हुआ। हिन्दी क्षेत्र की लोक संस्कृति के संरक्षण का कार्य आगे डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, राहुल सांकृत्यायन, कृष्णानन्द गुप्त, देवेन्द्र सत्यार्थी विद्वानों ने तो बहुत बाद में किया, ग्रियर्सन, इलियट, विसेंट स्मिथ, वाटरफील्ड जैसे पाश्चात्य विद्वानों को भी हमें कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना चाहिए। यदि सर चार्ल्स इलियट ने आल्हा खंड का संपादन न किया होता तो एक अत्यन्त रोमांचकारी काव्य से हमें हाथ धोना पड़ता। आल्हा खंड मानव मन को दो प्रमुख प्रवृत्तियों प्रेम और शौर्य का ऐसा आप्लावनकारी काव्य है कि जगनिक द्वारा वीरगाथाकाल में लिखे जाने के बाद आज भी वह उत्तर भारत की कृषक जनता को उद्वेलित करता है। आल्हाखंड की योजना कैम्प फायर के समय गाए जाने वाले बैलेड की तरह की गई है। जहाँ के योद्धा, वहीं की बोली बानी। इसीलिए उसके इतने पाठांतर मिलते हैं।

अभी तक पुस्तकों से मेरे सम्बन्ध पुस्तकम्, पुस्तकौ तक के ही थे। पुस्तकानि से मेरी अन्तरंगता का संयोग अनायास ही जुड़ा। सुनीति देवी से गुरु-शिष्य-गुरु के मेरे सम्बन्ध चल ही रहे थे कि राय परिवार का बेटा सुब्रतो कलकत्ता से बैकुंठपुर आया। 1946 की गर्मियों की बात होगी। सुब्रतो कलकत्ता से अपनी माँ के लिए तो बांग्ला की नई पुस्तकें लाया ही था, अपने लिए भी कई आकर्षक, सचित्र पुस्तकें उसके साथ थीं। वह मेरा समवयस्क था—एकाध साल बड़ा हो तो हो। उसकी पुस्तकें देखकर मेरा मन बहुत ललचाया। काश! ऐसी पुस्तकें मेरे पास भी होतीं। मैंने पिताजी को सुब्रतो की सम्पन्नता की कथा सुनाई—पिताजी मेरा आशय समझ गए। उन्होंने इंडियन प्रेस, प्रयाग, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई; सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली; सरस्वती प्रेस, वाराणसी, साहित्य सदन, चिरगाँव, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी जैसे प्रकाशनों के सूचीपत्र मँगवाए और मुझसे कहा कि तुम अपनी पसन्द की 50 पुस्तकों की सूची बना लो। मैंने सूची बनाई—15 दिनों के भीतर ईसप की कहानियाँ, भूतनाथ, चन्द्रकान्ता संतति, शरच्चन्द्र के उपन्यास, मानसरोवर, भारतीय शिष्टाचार, हिन्दी शब्द सागर, हिन्दी व्याकरण जैसी पुस्तकों के बंडल आने शुरू हो गए। बंडल खोलता तो जैसे मेरे कमरे में धूप खिल जाती। इन्हीं पुस्तकों में तीन टिकट, महाविकट और एक कुत्ते की आत्मकथा जैसी पुस्तकें भी थीं। मानसरोवर में दो बैलों की कथा पढ़कर मुझे लगा कि मैं भी हीरा-मोती के साथ गिरमा तुड़ाकर भाग रहा हूँ। मुझे शरच्चन्द्र की महेश कहानी भी इन्हीं दिनों पढ़ने को मिली—बड़ा कथाकार केवल मानवीय मन का ही नार्को टेस्ट करने में पारंगत नहीं होता, वह पशु-पक्षी, जलाशय-पहाड़ की भी धड़कनें सुन सकता है। बाद में मार्क ट्वेन की 'इंडियन क्रो' पढ़ते हुए भी ऐसी ही अनुभूति हुई थी। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय के स्वामी और संचालक नाथूराम प्रेमी शरच्चन्द्र के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने शरद् बाबू के उपन्यासों और कहानियों के हिन्दी अनुवाद कराए और बहुत सस्ते दामों पर उन्हें पाठकों तक पहुँचाया। इन सस्ते जेबी संस्करणों को उन्होंने नाम दिया अल्पमोक्षी पुस्तकें। प्रेमीजी एक प्रकार से हिन्दी में पॉकेट बुक्स के जनक कहे जा सकते हैं।

पुस्तकें किशोरावस्था में कौतुक उपजाती हैं यौवनावस्था में मित्र का काम करती हैं, प्रौढ़ावस्था में समय काटने में सहायक होती है पर वार्धक्य में वे बोझ बन जाती हैं। चन्द्रकान्ता संतति अथवा भूतनाथ पढ़ने की सही वय तो कैशौर्य ही है। भूतनाथ जब खुल जा सिमसिम कहता है तो बन्द खजानों और तहखानों के दरवाजे ही नहीं खुल जाते, हमारे कल्पना लोक के भी कपाट उन्मुक्त हो जाते हैं। भूतनाथ के साथ मैंने पता नहीं किन-किन ऐयारों को पीठ पर लादा होगा, लखलखा सुँघाकर पता नहीं किन-किन विरोधियों को संज्ञाहीन किया होगा और मुँह पर नकाब डालकर पता नहीं किन-किन राजकुमारियों का उद्धार किया होगा। हिन्दी में जासूसी और ऐयारी उपन्यासों के सबसे प्रेमी भावक हैं पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी। उनके 'विश्व साहित्य' और 'कथाचन्द्र' में कल्पना का जो दुर्निवार आकर्षण है, सर्जनात्मकता का जो प्रबल वेग है और अभिव्यंजना का जो उच्छल प्रवाह है वह भूतनाथ और चन्द्रकान्ता संतति जैसी क्रान्तियों में अवगाहन करने का ही परिणाम है। मुझे याद है हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल में शिक्षक संघ के सचिव के नाते जब मैंने मध्यप्रदेश के तत्कालीन प्रमुख सचिव श्री नरोन्हा को सम्बोधन के लिए आमन्त्रित किया था तब उन्होंने कहा था कि प्रत्येक अध्यापक को जासूसी उपन्यास और कहानियाँ अवश्य पढ़नी चाहिए ताकि कक्षा में वे ज्यादा सरस और रोचक हो सकें। उन्होंने पीटर चीनी, अगाथा क्रिस्टी, आर्थर डायल जैसे जासूसी कथाकारों के अपने जुनून को छिपाया भी नहीं। उन्हीं दिनों उनकी आत्मकथा 'टेल टोल्ड बाई एन ईडियट' प्रकाशित हुई थी और अपनी रोचकता और बेबाक अभिव्यंजना के लिए प्रशासनिक हल्कों में ही नहीं, साहित्यिक क्षेत्र में भी चर्चा का विषय बनी हुई थी। मैंने वह पुस्तक पढ़ी और लगा था कि आत्मकथा हो तो ऐसी।

पर यह सब उस वय में होता है जब आप किशोर अवस्था की देहरी लाँघकर यौवन के प्रांगण में प्रवेश करते हैं। फ्रायड और मार्क्स, अरविन्दो और गांधी पढ़ने और समझने की भी यही अवस्था होती है। बाल्यावस्था के कौतुकपूर्ण आकर्षण के उपरान्त पुस्तकों ने वैचारिक रूप से मुझे प्रबुद्ध किया जब मैं 1956 में जबलपुर आया। वहाँ आते ही मेरा परिचय अजय चौहान से हो गया। अजय सुभद्रा कुमारी चौहान और

लक्ष्मण सिंह चौहान के बड़े बेटे थे, बेहद अधीत और जागरुक। उन्होंने नेपियर टाउन में जिज्ञासा पुस्तक प्रतिष्ठान नाम से पुस्तकों की एक दूकान खोल रखी थी। अजय की जीजी सुधा अमृतराय को ब्याही थीं। जिज्ञासा नाम अमृतराय का ही दिया हुआ था। 'जिज्ञासा', में हंस प्रकाशन की सभी पुस्तकें तो होती ही, अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं की पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद भी होते। जिज्ञासा उन दिनों जबलपुर के प्रगतिशील और बौद्धिक रूप से सक्रिय साहित्यकारों का मुख्य अड्डा था। वहाँ रोज ही परसाई जी आते, हनुमान वर्मा आते, प्रमोद वर्मा आते, श्रीबाल पाण्डेय आते। साहित्य की नई-से-नई पुस्तकों की चर्चा होती। हिन्दी साहित्य की नई गतिविधियों पर विचार विनिमय होता। यदि अमृत राय, मुक्तिबोध या श्रीकान्त वर्मा शहर में हैं तो वे भी जिज्ञासा में जरुर झाँक लेते। स्टीफन ज्विग की आत्मकथा 'द वर्ल्ड ऑफ यस्टर डे' मैंने जिज्ञासा से ही खरीदी थी। जबलपुर के दिनों में मैं भाषा एवं शोध संस्थान के पुस्तकालय का प्रभारी भी था। अतः नाना विषयों के नाना ग्रन्थों तक मेरी पहुँच सहज थी। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल की 'इंडिया एज नोन टू पाणिनी' पढ़ने का अवसर मुझे वहीं मिला था। प्रेमचन्द की जीवनी 'कलम का सिपाही' भी। सुधा अमृतराय ने अपनी माँ सुभद्राकुमारी चौहान और पिता लक्ष्मण सिंह चौहान की जीवनी 'मिला तेज से तेज' भी मैंने उन्हीं दिनों पढ़ी थी। सागर के अपने छात्र जीवन में मुझ पर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे गुरुओं का जो प्रभाव पड़ा था, उसकी सीमाएँ भी अब समझ में आने लगीं थीं। अब यह समझ में आने लगा था कि जो आचार्य छायावाद का स्वागत करने में इतनी तत्वामि निवेशिनी प्रतिभा का परिचय दे सका, वह प्रगतिशील साहित्य और नई कविता के प्रति इतना अनुदार क्यों था। जबलपुर के ही कार्यकाल में रजनीश मेरे सहयोगी थे। अभी वे न भगवान हुए थे, न ओशो। हाँ, वे स्वयं को आचार्य अवश्य कहने लगे थे। रजनीश के दर्शन में मुझे सदैव एक आध्यात्मिक छल और प्रदर्शनप्रियता दिखाई पड़ती थी। उनका दर्शन मुट्ठी में भरी उस बालुका के समान है जो मुट्ठी को जितना दबाओ, बालुका मुट्ठी में से उतनी ही अधिक मात्रा में निकलती जाएगी। रजनीश का दर्शन बेहद नाजुक मिजाज है, वह अकल का बोझ उठा नहीं सकता। हाँ, रजनीश की पुस्तकें इतनी भव्यता में प्रकाशित हुई हैं कि वे आपके ड्राइंगरूप की शोभा बढ़ाने में नहीं चूकतीं। रजनीश की पुस्तकों का सेट अपने ड्राइंगरूम में रखना एक प्रकार का स्टेटस सिंबल है। मजे की बात यह है कि रजनीश ने स्वयं कुछ नहीं लिखा, वे जो बोलते थे, वही बाद में पुस्ताकाकार प्रकाशित होता था। आधुनिक काल के वाचिक परम्परा के वह पहिले आचार्य थे। नामवर सिंह तो बाद में हुए।

पुस्तकों से मेरे सम्बन्ध कई प्रकार के हैं–परिचारक, भावक, समीक्षक और लेखक। परिचारक एक प्रकार से पुस्तकों का नर्स और डॉक्टर होता है, पुस्तकों की कुछ लोग ऐसी साज सम्भाल करते हैं जैसे कोई अपनी संतति की करता है।

मुझे भावक के रूप में सभी प्रकार की पुस्तकें पढ़ने का व्यसन है। साहित्य की पुस्तकें भले मेरी प्राथमिकता में आती हों पर मुझे इतिहास की, राजनय की, पुरातत्व की, समाजशास्त्र की, जीवविज्ञान की भी कोई पुस्तक मिल जाए तो मैं स्वयं को रोक नहीं पाता। विश्वविद्यालय के छात्र जीवन में हिन्दी के मेरे गुरु राजनाथ जी पाण्डेय के पास बड़ा सम्पन्न निजी पुस्तकालय था। वे राहुल सांकृत्यायन के साथ तिब्बत तक हो आए थे। गर्मी की छुट्टियों में जब भी मैं घर जाने को होता तब वे इतिहास, पुरातत्व अथवा यात्रा विषयक दो-चार पुस्तकें मुझे पढ़ने को दे ही देते। महानाविक महाजनक, नेपाल के मेरे अनुभव जैसी पुस्तकें मुझे उनके ही प्रसाद से पढ़ने को मिलीं। फ्रायड, एडलर और जुंग जैसे मनोविज्ञानवेत्ताओं से मेरा परिचय उन्हीं के कारण हुआ। प्रो. शिवशंकर राय थे तो दर्शन शास्त्र के अध्यापक पर अंग्रेजी साहित्य के अध्येता थे। पिकरेस्क उपन्यासों में उन्होंने मुझे जो पुस्तकें पढ़ने को दीं, उनके कारण मैं हिन्दी के पिकरेस्क उपन्यासों की नई कोटि स्थापित कर सका। मोपांसा, चेखव, तुर्गनेव, बाल्जाक जैसे कृतिकारों की कालजयी कृतियाँ मैंने उनसे लेकर पढ़ीं।

पुस्तकों से मेरा एक रिश्ता और रहा है जिसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। विश्वविद्यालयों के आचार्यों एवं अध्ययन मंडल के सदस्यों को स्नातक एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के लिए पुस्तकों का निर्धारण करना पड़ता है। ये पुस्तकें कौन-सी हों? प्रायः अच्छे साहित्यकारों की तुलना में 'अच्छे' प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पुस्तकों को वरीयता दी जाती है। एक बार मैंने बी.ए. के पाठ्यक्रम में तुलसी कृत मानस का अयोध्याकांड पाठ्यक्रम में निर्धारित करने का निश्चय किया। प्रकाशकों ने इसका पुरजोर विरोध किया, अध्ययन मंडल के अन्य सदस्यों ने भी। विरोध का कारण? इससे न प्रकाशकों का 'भला' होगा, न मंडल के सदस्यों का। तुलसी की कृतियों पर कोई कॉपीराइट नहीं है–कोई भी अयोध्याकांड छाप सकता है, फिर रामचरितमानस तो घर-घर में है। हमारे प्रकाशन की पुस्तकें कौन खरीदेगा? मैंने उत्तर में कहा था कि छात्रों का हित साधन मेरी पहिली प्राथमिकता है। मुक्तिबोध प्रकाशकों के षड्यन्त्र का शिकार हो चुके थे और उनकी भारतीय संस्कृति विषयक पुस्तक प्रतिबन्धित हुई थी। यहाँ मामला तुलसी का था अतः मेरे ऊपर कोई आरोप तो नहीं लगता पर प्रकाशक और मेरे सहयोगी सदस्य मुझसे रुष्ट तो हो ही गए।

बढ़ती वय के साथ पुस्तकों से सम्बन्ध उतने प्रगाढ़ नहीं रह पाते। आँखों की ज्योति क्षीण होने लगती है, चश्मे का नम्बर बढ़ने लगता है। यह याद नहीं रह जाता कि फलां पुस्तक आपने किस रैक में कहाँ रखी है। जब तक पुस्तक आपको मिलती है तब तक उसको पढ़ने का उत्साह समाप्त हो जाता है या बिना पुस्तक के ही आपका काम चल जाता है। डॉक्टर कहने लगते हैं–पुस्तकें पढ़ना कम कर दीजिए। लेटकर तो बिल्कुल मत पढ़िए। पर डॉक्टरों की मानें या जीवन भर के प्रेम का निर्वाह करें। गालिब जानते थे कि छुटती नहीं है काफिर मुँह से लगी हुई। मैं भी उतना ही पढ़ना चाहता हूँ जितना निहायत अनिवार्य हो। यहाँ भी गालिब ही मेरा पथ-प्रदर्शन करते हैं।

गालिब छुटी शराब, पर अब भी कभी-कभी
पीता हूँ रोजे-अब्रो-शबे-माहताब में

और चाहता हूँ कि रोजे-अब्रो-शबे-माहताब बार-बार आएँ।

5, विद्यापुरम्, मकरोनिया कैम्प, सागर (म.प्र.)-4
टेली. 07582-262354

दलित आत्मकथा लेखन का एक नया द्वार

शंभु गुप्त

दलित-कथाकार अजय नावरिया की ताजा किताब 'उधर के लोग' मेरे सामने हैं लेकिन मैं चक्कर में पड़ गया हूँ कि इसे क्या कहा जाए; सचमुच में एक उपन्यास, जो इसे कहा गया है; हालाँकि प्रकाशक द्वारा दी गई सूचना में इसे यह नाम नहीं दिया गया है, सिर्फ ब्लर्ब पर इसे उपन्यास कहा गया है या फिर एक आत्मकथा, जैसा कि दलित-लेखक अनिवार्यतः लिखता ही है। या फिर यह हिन्दी की एकदम ताजा प्रवृत्ति-विधाओं का रचनात्मक सम्मिलन–की एक और मिसाल है?

विधाओं के सम्मिलन का एक नया रिवाज अभी हाल ही में हिन्दी में चला है और इसके अन्तर्गत अनेक श्रेष्ठ गद्य-रचनाएँ आई हैं। 'उधर के लोग' हालाँकि उस कोटि की रचना नहीं है, लेकिन इसमें कम-से-कम दो विधाएँ जरूर गड्डमड्ड हुई हैं, एक उपन्यास और दूसरी आत्मकथा। शायद अजय नावरिया आत्मकथा से बचना चाह रहे थे, हो सकता है इसलिए कि इस तरह की आत्मकथाएँ तो दलित-साहित्य में ढेरों हैं और इनका कोई भविष्य हिन्दी में बन नहीं पाया है। पिछले दिनों जैसे एक प्रतियोगिता या होड़-सी हिन्दी में चली कि कौन कितनी जल्दी अपनी आत्मकथा लिख मारता है! ये आत्मकथाएँ जैसे एक उत्पाद की तरह हिन्दी में आई!

मैं इन आत्मकथाओं के प्रति अपना अनादर कतई नहीं व्यक्त कर रहा हूँ बल्कि एक आवश्यक तथ्य की ओर सबका ध्यान खींचना चाहता हूँ कि क्या कारण है कि एक आत्मकथा लिखने के बाद हिन्दी का दलित लेखक इतना थक जाता है कि आगे वह क्या लिखे और कैसे लिखे, उसे समझ नहीं आता! या तो उसके जीवनानुभव एक ही बार में पूरे निचुड़ चुके होते हैं और अब नया कुछ कहने को बच नहीं जाता और दुहराव का संकट पैदा हो जाता है कि एक ही चीज को कहाँ तक और कितना लिखा जाए! या फिर ऐसा होता होगा कि लेखक सोचता होगा कि अब जबकि लेखन की दुनिया में जगह बन गई है तो आगे इसे बनाए रखने के लिए केवल लेखन काफी नहीं है, इसके लिए और भी बहुत कुछ करना पड़ेगा! हालाँकि आजकल यह प्रवृत्ति अन्य लेखकों में भी कम नहीं है। दलित-लेखकों पर ध्यान जल्दी इसलिए जाता है कि दलित-लेखन केवल एक रचनाधर्मिता नहीं है, एक आन्दोलन भी है। वह जितना अन्दर है उससे ज्यादा बाहर है और जितना बाहर है उससे ज्यादा अन्दर है कि दलित-लेखन केवल एक रचनाधर्मिता नहीं है, एक आन्दोलन भी है! वह जितना अन्दर है उससे ज्यादा बाहर है और जितना बाहर है उससे ज्यादा अन्दर है। यानी कि सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में दलित लेखक को ज्यादा चौकस और ईमानदार रहना होता है। यहाँ बीच का रास्ता या घालमेल की चालाकी चलती नहीं है; यदि उसे जबर्दस्ती चलाया जाएगा तो सारी प्रक्रिया ही अवरुद्ध हो जाएगी!

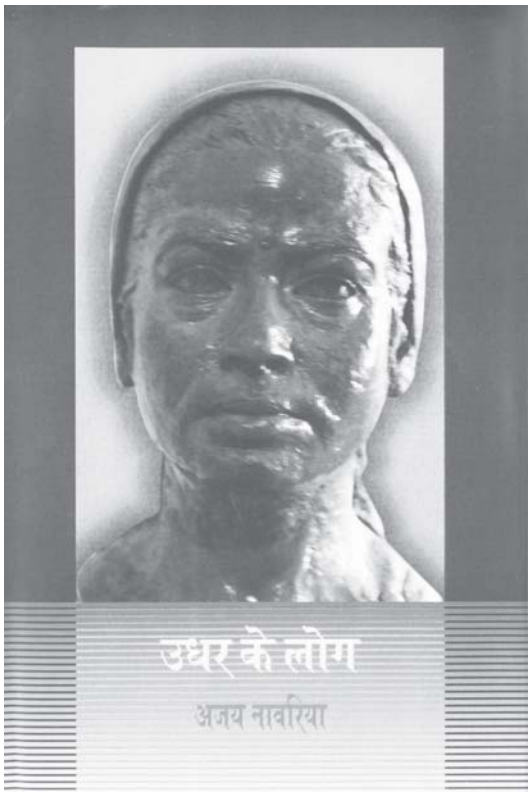

इसलिए दलित लेखक होना गर्व और उपलब्धि की बात है तो इससे ज्यादा यह एक गहन जिम्मेदारी-भरा कार्यभार भी है। जैसा कि अजय नावरिया खुद इस पुस्तक में एक जगह कहते हैं कि–''यह वक्त व्यक्ति का नहीं, समूह का है।'' (उधर के लोग, पृ. 118)। हालाँकि एक-दूसरे स्थान पर वे यह भी कहते हैं कि–''क्या समूह के स्तर पर यह अस्तित्व की लड़ाई, व्यक्ति के स्तर पर सत्ता की लड़ाई नहीं समझी जा सकती? (वही, पृ. 75)। दरअसल यही वह गाँठ है जिसे सुलझाने के चक्कर में हिन्दी का दलित साहित्य और ज्यादा उलझा देता है। इसका कारण शायद यह है कि व्यक्ति और समूह की परिभाषाएँ वहाँ समय एवं स्थान के हिसाब से बराबर बदलती रहती हैं और इनका कोई एक निश्चित पैमाना नहीं है। मसलन यहाँ एक तरफ एक सुशील नाम का पात्र है और दूसरी तरफ एक जयंत नाम का। मोटे तौर पर ये दोनों ही दलित-समुदाय से हैं लेकिन दलितों में हिन्दुओं की अन्य जातियों की तरह व्याप्त आन्तरिक जाति-भेद के चलते सुशील सबसे निचले पायदान पर

है। उसे बराबर अपने ही कथित 'बृहत' समाज में व्याप्त इस गैरबराबरी का दंश लगातार झेलना पड़ता है। अजय नावरिया इसे बाकायदा अपनी अन्तर्वस्तु का हिस्सा बनाते हैं और इस तरह दलित-समाज के एक भारी अन्तर्विरोध को बड़ी बेबाकी, विस्तार और विमर्श के साथ उठाते हैं।

इसके साथ ही एक और अन्तर्विरोध यहाँ उनकी पकड़ में आया है। वह है सुशील का भ्रष्ट आचरण। सुशील जो कि एक आई. पी.एस. अधिकारी है, और जिसके मन में सामाजिक अन्याय और भेदभाव को लेकर सदैव से भारी रोष रहा है, आरक्षण के कोटे से एक आला पुलिस अधिकारी बनते ही एक साल के अन्दर-अन्दर वह क्या से क्या हो जाता है! यहाँ नावरिया केवल यथार्थ-चित्रण नहीं करते बल्कि उस आधारभूत प्रश्न को भी बाकायदा उठाते हैं कि किसी आन्दोलन से जुड़ा व्यक्ति कैसे एकाएक अवसर मिलते ही बेपनाह भ्रष्ट हो लेता है–''सामाजिक क्षेत्रों में जूझते लोगों का व्यक्तिगत कुछ भी नहीं होता–× × × आखिर कैसे एक ही साल में उसने अफरात पैसा कमा लिया × × × क्यों उसने, जयंत की तरह, अपना सारा जीवन, एक लक्ष्य के लिए समर्पित नहीं किया? क्या एयरकंडीशंड घर और गाड़ियाँ, महँगी शराब और महकती औरतों का पाश भी उसकी अस्तित्व की लड़ाई के हिस्से हैं?'' (वही, पृ. 70) यहाँ तक तो ठीक था। यहाँ वे उपन्यास के अनुशासन में हैं। लेकिन यह रचना एक उपन्यास ही नहीं, प्रकारान्तर से एक आत्मकथा भी है। अतः आगे जब आत्मकथा का अपना मैदान उनकी हद में आता है तो दिल्ली के एक दूर-दराज के दलित गाँव में अपनी एक नवगठित एन.जी.ओ. 'संघमित्र' के बैनर तले अस्पताल शिशु-गृह और आँगनबाड़ी के भवन-निर्माण की नींव की ईंट रखने जाने के वक्त यही सुशील लगभग लीडरशिप की हैसियत में उनके समूह में जगह पाता दिखाई देता है। (द्रष्टव्य, वही, पृ. 183)। पता नहीं यह कौन-सी कैसी मजबूरी है कि इस शख्स के बिना इन लोगों का यह दलित-जन-हितकारी लक्ष्य पूरा नहीं हो पा रहा है? क्या यह मात्र एक जातिगत सामूहिकता का मसला है कि दलित-बुद्धिजीवियों, दृष्टि-सम्पन्न लोगों को अपने समाज के लिए कुछ नया करना चाहिए या कोई और बात भी यहाँ है?

इससे थोड़ा ही पहले एक बार जब इस बाबत औपन्यासिकता लेखक पर हावी थी तो उसका स्वर एकदम अन्तर्दृष्टि-पूर्ण था। तब वह यकायक न जाने कैसे न केवल दलितवाद बल्कि सम्प्रदायवाद और तत्ववाद के प्रति भी बेतरह सचेत हो आया था और सुशील के साथ-साथ अपने मामा बनवारीलाल की वर्गीय पहचान भी उसमें प्रबल हो उठी थी–

''पर मैं क्यों किसी एक बनवारीलाल, सुशील या किसी और एक को इतनी अहमियत दे रहा हूँ?''

''यह बस अहंकारों का टकराव था और व्यक्तिगत उच्च आकांक्षाएँ थीं। इस मदहोशी में ये ताकतवर और गद्दीनशीन लोग उन लोगों की तरफ नहीं देख पा रहे थे, जो देहातों में आज भी मिट रहे थे, जलाए जा रहे थे, मारे जा रहे थे। वे वाल्मीकि नहीं थे, जाटव भी नहीं, मुसहर भी नहीं, दुसाध भी नहीं, महार भी नहीं, मादिगा और धानुक भी नहीं...वे सताए हुए लोग थे...वे बस कमजोर लोग थे, जो अपनी हिफाजत करने के काबिल भी नहीं थे।'' (वही, पृ. 179)

इस पुस्तक के साथ दरअसल दिक्कत यह है कि इसमें कब औपन्यासिकता होगी और कब आत्मकथा; यह तय कर पाना मुश्किल हो जाता है। लेखक यहाँ इन दोनों को एक साथ साधना चाहता है, एक सीमा तक वह इसमें सफल होता भी है लेकिन बार-बार वह इसमें अटकता भी है–''मैं फिर अपने भीतर कहीं अटक गया था।'' (वही, पृ. 82)। इसका कारण शायद लेखक की यह एक साथ दो नावों पर सवार होने की महत्त्वाकांक्षा रही है। यह महत्वाकांक्षा बुरी नहीं है बल्कि इसने दलित आत्मकथा-लेखन का एक नया द्वार ही खोला है। आवश्यकता यहाँ सिर्फ यह थी कि लेखक यहाँ किसी एक तरफ होता, उसका एक साफ स्टैंड होता; यह क्या कि आधे इधर हैं और आधे उधर और अन्त में रहस्य खुलता है कि जनाब न इधर है और न उधर! तो फिर आखिर किधर हैं? आखिर ऐसा कैसे हो सकता है कि कोई किधर भी नहीं हो? किसी-न-किसी तरफ तो आदमी थोड़ा ज्यादा झुका होता ही है और इसी से पता चलता है कि बन्दा क्या चाहता है! जो हो! अजय नावरिया के यहाँ स्थिति स्पष्ट नहीं है। फिलहाल दोनों ही तरफ रहना उनका चुनाव है। पता नहीं कब कौन काम आ जाए! लिखते हैं–''मैं दोनों तरफ था। यह शायद मेरा सुख था या दुख या सिर्फ नियति।'' (वही, पृ. 160)। सुशील अनजाने में उन पर जो यह टिप्पणी करता है कि–''तू कभी खुलकर बात नहीं कर सकता हमारी तरह। तेरे कोने कभी ब्राह्मणों में दबे रहते हैं, कभी चमारों से।'' (वही, पृ. 114) तो वह अनायास और बातों के सहज क्रम में बनी एक निर्दोष राय ही है, जो इस पर एकदम सटीक बैठती हैं।

शायद इस दुतरफापन और अनिर्णय का ही एक परिणाम है कि अजय नावरिया इस उपन्यास-सह-आत्मकथा में कोई क्रान्तिकारी-परिवर्तनकारी विमर्श दे नहीं पाते। हाँ, बीच-बीच में विभिन्न प्रसंगों, सन्दर्भों, बहसों, घटना-विश्लेषणों, पात्र-परिचयों/विवरणों इत्यादि में इनके जो अक्स और प्रतिक्रियाएँ उनकी आती हैं, वे जरूर और वैमर्शिक माहौल यहाँ बनाती हैं। ये प्रसंग ज्यादातर या तो स्मृतिपरक हैं या आत्ममन्थनात्मक। स्मृति और आत्ममन्थन दोनों ही उपन्यास के अवयव भी हैं और आत्मकथा के भी। हालाँकि स्मृति प्रधानतः उपन्यास का और आत्ममन्थन प्रधानतः आत्मकथा का तत्त्व है। इनका सम्मिश्रण उत्साहजनक और निदर्शनात्मक तभी हो सकता है जब वैचारिक रूप से हम दृढ़ और अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न हों और दो-टूक तरीके से अपना अगला कदम उद्घोषित कर सकें। आधा इधर का और आधा उधर का मिला के एक कोलाज-सा तो तैयार किया जा सकता है, कोई अच्छी रचना तैयार नहीं की जा सकती है।

लेकिन बावजूद इन सारी कमियों और कमजोरियों के यह किताब दलित-साहित्य के दायरे में कुछ नई प्रविष्टियाँ करती हैं। जैसे कि एक का तो उल्लेख ऊपर आया ही है कि दलित-समुदाय में व्याप्त अन्दरूनी जातिगत भेदभाव और ऊँच-नीच की सांघातिक स्थितियों को अजय नावरिया बहुत बेबाकी और प्रामाणिकता के साथ व्यक्त करते हैं। इसमें कोई लीपापोती और समरसता जैसी भाववादी दृष्टि वे नहीं अपनाते। इस लिहाज से सुशील का चरित्र यहाँ स्मरणीय है। अपने ही समुदाय में उनके प्रति बरती जाती सावधानी इस समुदाय की एकता की जड़ों में मट्ठा डालती हैं

और दूसरे लोगों को यह मौका देती हैं कि वे इसका फायदा उठाएँ और इनकी उर्जस्विता में सेंध लगाकर इन्हें वापस ठहराव में पहुँचा दें! इस क्रम में आगे एक जगह अजय एक बहुत ही प्रामाणिक अनुमान संकेतित करते हैं कि इस समय जबकि चमार कम्युनिटी दलितों में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी दृष्टियों से अन्य दलित जातियो से बहुत-बहुत आगे हैं, एक तरह से सबका हक वह मार रही है, और न केवल इतना बल्कि यह भी कि विशेषतः अन्त्यजों के प्रति उसका वैसा ही अमानवीय और हतोत्साहपूर्ण व्यवहार है जैसा अन्य हिन्दू सवर्ण/गैर-स्वर्ण जातियों का इनके प्रति रहता आया है। इस उपन्यास की कथायोजना का सोद्देश्य लाया गया एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पात्र सुशील यहाँ लगभग प्रारम्भ से लेकर एकदम अन्त तक इस मामले में जयंत का लगातार जो पीछा करता रहता है, तो यह अनायास नहीं है। अजय नावरिया पूरी सोच-समझ और यथार्थ-चित्रण की अनिवार्यता के तहत इस प्रकरण को लाते हैं। यह प्रकरण इस विडम्बना के साथ समाप्त होता है कि ''मैं नहीं चाहता कि कोई चमार इस प्रोजेक्ट में रहे। × × × वे हमें हर जगह, अपनी संख्या की ताकत से कोने में कर देंगे। × × × वे हमें कभी लीडरशिप नहीं देंगे। × × × सच यह है कि ये लोग हमसे अपनी जात की सेवा कराना चाहते हैं और हमारा 'इंडिपेंडेंट एक्जिसटेंस' नहीं बनने देना चाहते।'' (वही, पृ. 178-179)। यहीं बीच में राना के मार्फत लेखक का यह अनुमान प्रकट होता है–''× × × चमार कम्युनिटी की यह पोलिटिकल पार्टी, बार-बार, ब्राह्मणों से समझौता करेगी। ...आफ्टर ऑल रिकगनिशन तो ब्राह्मण ही दे सकते हैं...'' (वही, पृ. 148)। उत्तर प्रदेश की एक दलित-नेतृत्व वाली राजनीतिक पार्टी के पिछले पन्द्रह सालों के इतिहास और विकास पर नजर दौड़ाएँ तो यह बात शत-प्रतिशत सच साबित हुई है। अभी हाल ही में जिसे 'सोशल इंजीनियरिंग' नाम देकर दलित-राजनीति के एक नए युग की संज्ञा दी गई है, उसकी भी हिडेन पोलिटिक्स लगभग यही है। यहाँ सत्ता में आना सबसे बड़ी प्रासंगिकता है। सत्ता में आ जाने के बाद यह पोलिटिकल पार्टी दलित-संचेतना के प्रति कितनी ईमानदार रह पाती है, यह एक लगातार मुल्तवी किया जाता रहने वाला मसला बन जाता है। यह ठीक वैसी स्थिति है, जैसे दक्षिणपंथी राजनीति धर्म का सहारा लेकर सत्ता में तो आ जाती है, लेकिन सत्ता में आते ही वह धर्म को सबसे पहले रद्दी की टोकरी में डालती है। अजय नावरिया यहाँ तक तो नहीं जाते लेकिन इसका हल्का संकेत अवश्य देते हैं। यह कतई विचित्र नहीं है कि दलितों की इस कथित राजनैतिक पार्टी ने सत्ता में आने के मकसद से एक नहीं अनेक बार दक्षिणपंथियों के साथ गठबन्धन किया है।

अजय नावरिया का एक और महत्त्वपूर्ण अवदान इस सिलसिले में यह है कि वे एक ऐसे दलित चरित्र का उदाहरण यहाँ लाए हैं, जो दक्षिणपंथ के राजनैतिक प्रभाववश न इधर का रहता है न उधर का। वह पात्र है, मामा बनवारी लाल। बनवारीलाल का विवरण जिन शब्दों में अजय देते हैं, वहाँ कोई और बात कहने के लिए शेष रह नहीं जाती–''× × × चाचाजी सिर्फ मुसलमानों के विरोधी नहीं थे, वह जाटवों के भी विरोधी थे और बहुत भीतर ब्राह्मणों के भी। मुसलमानों के विरोधी तो वह हाल ही में किसी हिन्दूवादी दल में जाने के बाद बने थे। ऐसे नए-नए हिन्दू, नए-नए मुसलमानों से भी ज्यादा धार्मिकता दिखाते हैं। चाचाजी ऐसे ही नए-नए हिन्दू थे, जो बात-बात पर 'बच्चा-बच्चा राम का, जन्मभूमि के काम का' रोने लगते थे।'' (वही, पृ. 173)। बनवारीलाल की मार्फत अजय नावरिया बताते हैं कि दक्षिणपंथी आदमी दरअसल अपनी खुद की जाति का भी सगा नहीं होता। ऐसा आदमी सिर्फ आत्मकेन्द्रित हो सकता है–''वह खटीकों के लिए भी मरना नहीं चाहते थे। वह सिर्फ खुद के लिए मर-मिट सकते थे, इसमें जो भी उनका सहायक बन सके, वह उसके लिए, उसके साथ थे।'' (वही, पृ. 174)। अजय शायद कहना यह चाहते हैं कि बनवारीलाल जैसा खुदगर्ज आदमी दक्षिणपंथियों के सम्पर्क में आने के बाद किसी दीन का नहीं रहता। ऐसे निखद्द आदमी का–यदि वह दलित है तो–इस तरह धुरीहीन हो जाना बेहद लाजिमी है–''हम कहाँ जाएँ भाया, कौन-से कुआँ-भाड़ में?'' (वही, पृ. 177)। बनवारीलाल का चरित्र विमर्शकारी है।

अजय नवारिया हिन्दी की अधिकांश दलित-आत्मकथाओं की तरह आत्मरोदन नहीं करते। इन आत्मकथाओं के बारे में हिन्दी में कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कई दलित-लेखकों ने ही इन आत्मकथाओं पर यह आरोप लगाया है कि ये काफी बड़ी सीमा तक मनगढ़न्त और झूठी हैं, लेखकों ने ऐसा कुछ वास्तव में जिया नहीं है; जैसा वीभत्स यहाँ वे दिखाते हैं, आदि-आदि। अब, इसकी सच्चाई का पता लगाने का कोई पैमाना किसी के पास नहीं है। और, ऐसा आरोप तो कोई भी किसी पर भी लगा सकता है। अतः इन आत्मकथाओं पर अविश्वास करने का कोई विहित तर्क हमारे पास नहीं है। इस मामले में फिलहाल सिर्फ यह कहा जा सकता है कि लेखकीय झूठ को नापने का इनका पैमाना भी वही है जो अन्य सृजनात्मक लेखन का हे। भाषा और चरित्रों के बीच के सम्बन्ध। भाषा के मार्फत अच्छे-अच्छों को रँगे हाथ पकड़ा जा सकता है। पूर्वाग्रहों से आलोचना का काम न कभी चला है, न चलेगा। जो हो। अजय नावरिया आत्मकथा में औपन्यासिक विन्यास लाकर इस विवाद से परे हो गए हैं। इसमें अगर कुछ मनगढ़ंत या झूठ होगा भी तो औपन्यासिकता की पतली गली से वे निकल लेंगे। लेकिन हम झूठ-सच जैसी अध्यापकीयता की बात ही क्यों करें? जो सृजनात्मक पाठ हमारे सामने है, उसी के सहारे हम आगे क्यों न बढ़ें? और इस लिहाज से जब हम इस आत्मकथा-सह-उपन्यास पर विचार करते हैं तो यही बात ध्यान में आती है कि अजय नावरिया ने पूरी ईमानदारी और विवेक के साथ इस किताब में मेहनत की है। उनके लहजे में संलग्नता और तटस्थता का ऐसा सृजनात्मक मेल है कि इस पुस्तक को एक आत्मकथा की तरह भी पढ़ा जा सकता है और एक उपन्यास की तरह भी–''मेरे लहजे में सपाट और निर्भाव शब्द थे। इसके बावजूद शब्दों में पक्षधरता थी।'' (वही, पृ. 176)

दलित लेखन में ऐसा संगुम्फन सम्भवतः पहली बार है।

उधर के लोग/ अजय नावरिया/ राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य 200 रु.

21, सुभाष नगर, एन.ई.बी., अलवर-301001
मो. 09414789779

उपन्यास

'रज़िया बेगम' का पुनः प्रकाशन

उपन्यास

राजकुमार सैनी

आचार्य किशोरी लाल गोस्वामी के बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखा–''उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार पंडित किशोरी लाल गोस्वामी (जन्म सं. 1922-मृत्यु सं. 1989) हैं, जिनकी रचनाएं साहित्य कोटि में आती हैं। इनके उपन्यासों में समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूपरंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण भी अवश्य पाया जाता है।''

'सुलताना रज़िया बेगम' उपन्यास में भी सामाजिक जीवन की जीवंत झांकियाँ, वासनाओं के उत्तेजक प्रसंग, चित्ताकर्षक विवरण और अच्छा-खासा चरित्र-चित्रण है। रज़िया और गुलाम याकूब का चरित्र-चित्रण उपन्यासकार की कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। रज़िया का याकूब के प्रति मर्मांतक प्रेम उसकी विवशता है। लेकिन यह उसकी बदनसीबी भी है कि याकूब मल्लिका रज़िया बेगम के प्रेम और अहसानों को नज़रन्दाज़ करता हुआ उसकी दासी सौसन से प्यार करता है।

यदि याकूब सौसन से प्रेम न करता; रज़िया बेगम के प्रेम को स्वीकार कर लेता तो वह राज्य में विद्रोह का संचालन न करता, रज़िया के विरुद्ध उसके दरबारियों, सरदारों, किलेदारों, प्रधान कर्मचारियों और उसके सेनापति को तख्तापलट करने के लिए न उकसाता, न भड़काता तो इतिहास की दिशा-दशा रज़िया के प्रतिकूल न जाती और वह कुछ अधिक वर्षों तक दिल्ली के सिंहासन पर समासीन रहती। रज़िया विश्व इतिहास में पहली महिला शासक थी। वह मर्दों के लिबास में रहती थी। उसके भीतर एक नारी थी जो अपने अन्तर्द्वन्द्व के साथ सदा सजग रही। मैं तो यही कहूँगा कि पुरुषों के वर्चस्व वाले समाज ने उसे अधिक समय तक बर्दाश्त नहीं किया। यद्यपि उपन्यासकार किशोरी लाल गोस्वामी ने उसे एक चरित्रहीन नारी के रूप में प्रस्तुत किया है और उसकी चरित्रहीनता को ही उसके पतन का कारण बताया है लेकिन मेरी निजी धारणा है कि कठमुल्लाओं का नापाक गठबंधन और पुरुष-प्रधान समाज का नारी-विरोधी रूझान सुलताना रज़िया बेगम के धर्मनिरपेक्ष और जातिनिरपेक्ष शासन को अधिक समय तक सहन नहीं कर पाया। धर्मांध कठमुल्लाओं ने उसके राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया और उसे अपदस्थ किया। इस वीरांगना ने अकेले ही गुप्त वेश में दिल्ली से प्रस्थान किया। याकूब ने सेनापति रुस्मत खां के साथ मिलकर रज़िया के भाई मुइज्जुद्दीन बहराम को, जो दिल्ली में कैद था, छुड़ा कर तख़्त पर बैठा दिया। उसने रज़िया की ज़ालिम माँ कुसीदा तथा मुइज्जुद्दीन बहराम के छोटे भाई नासिरुद्दीन महमूद और रुकनुद्दीन फिरोजशाह के लड़के अलाउद्दीन मसऊद को नज़रबंद किया।

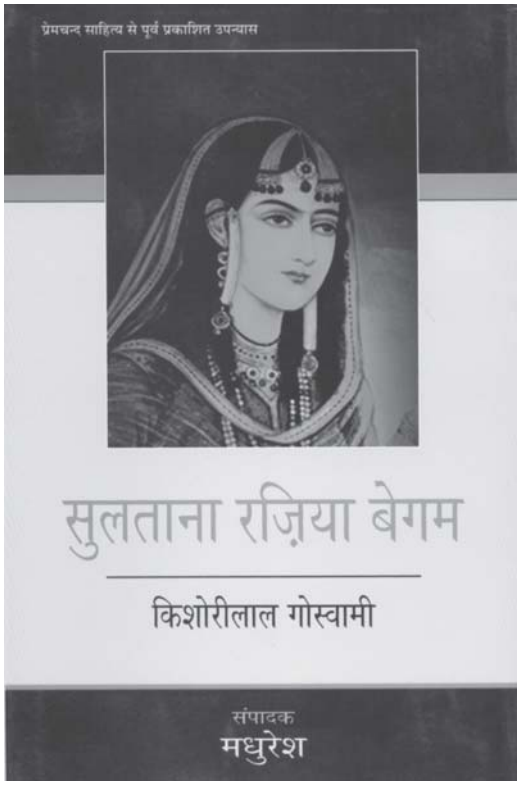

रज़िया अकेली गुप्त वेश में भटकती हुई भटिंडे पहुँची और वहां अपने विश्वासपात्र किलेदार अल्तूनिया के विश्वास की परीक्षा लेने के बाद उसके समक्ष प्रगट हो गई। जैसे ही रज़िया ने अपनी मर्दानी पोशाक दूर कर दी वह किलेदार के गले लिपट कर बोली–''प्यारे! तेरी आशिक रज़िया, तेरे रूबरू है। अब जो तेरे जी में आये सो कर। अब चाहे इसे अपने गले का हार बना, या इसे रस्सी समझकर दबारिशाही में पेश कर।''

अलतूनिया (भटिंडा के किलेदार) ने उसे (रज़िया बेग़म को) भरज़ोर सीने से लगाकर उसके गुलाबी गालों को चूम लिया और कहा– ''दिलरुबा रज़िया! तुझसी परीपैकर को कौन बदनसीब जल्लाद की तलवार के हवाले करेगा। तू बेखौफ हो कर यहां रह और शौक से मुझे अपनी खिदमत में कबूल कर।''

उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी की इस उर्दू-मिश्रित ज़ायकेदार भाषा को आचार्य रामचंद्र शुक्ल कतई पसंद नहीं करते फिर भी गोस्वामी जी की यह भाषा खड़ीबोली की एक उम्दा मिसाल है और मुझे तो बेहद पसंद है। यह भाषा मार्मिक प्रसंगानुकूल भाषा है और अत्यन्त रोचक तथा सरस है।

किशोरी लाल गोस्वामी उर्दू, हिन्दी,

संस्कृत तथा फारसी के जानकार, साहित्य के मर्मज्ञ, हिन्दी के पुराने कवि और लेखक थे। अपने उपन्यास 'रज़िया बेगम' के प्रत्येक परिच्छेद का प्रारम्भ उन्होंने चुनी हुई शायरी के उद्धरणों से किया है। प्रत्येक परिच्छेद में वे किसी पिछले रहस्य पर से परदा उठाते हैं तो किसी अगले रहस्य का परदा गिराते हैं, ऐसा रहस्य जिस पर कभी-कभी आगे के तीन-चार परिच्छेदों के बाद परदा उठता है।

'रज़िया बेगम' उपन्यास की नाटकीयता भी आकर्षित करती है। भाषा और शैली भी नाटकीयता से ओतप्रोत है। संवाद और कथोपकथन नाटकीय हैं। उपन्यास पढ़ते समय ऐसा आभास होता है, मानो हम कोई नाटक देख रहे हैं। पूरा उपन्यास एक अच्छी साहित्यिक कृति का रसास्वादन कराता है।

यह उपन्यास 'सुलताना रज़िया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' सन् 1904 में पहली बार प्रकाशित हुआ था। अब सौ वर्षों से भी अधिक बाद में वर्ष 2008 में हिंदी के प्रतिष्ठित आलोचक मधुरेश ने इसे सुन्दर और रंगीन साज-सज्जा के साथ पुनर्प्रकाशित किया है। उपन्यास के शीर्षक में ही रज़िया को रज़ीया, और अन्यत्र न्याय को न्याव, पहला को पहिला, ज़्यादा को ज़ियादह, मौसम को मोसिम, बराए मेहरबानी को बराहे मेहरबानी, कायम को कायरम, ख़तरनाक को खतरेनाक, बेहतर को बिहतर, सभी ने को सभों ने लिखा गया है। इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि उपन्यास की भाषा और आज की भाषा में कितना बदलाव आ गया है। सौ वर्षों से भी अधिक समय को देखते हुए यह बदलाव बहुत मामूली बदलाव लगता है। इस मामूली भाषाई बदलाव के सभी उदाहरणों को पेश करना गैर-ज़रूरी है। अब कहानी की ओर लौटें!

किलेदार अलतूनिया से मिलकर रज़िया बेगम ने दिल्ली पर आक्रमण किया। वह हार गई। अलतूनिया इस युद्ध में मारा गया। रज़िया भटिंडे के किले में वापस लौट आई।

कुछ दिनों तक रज़िया चुपचाप बैठी रही। ''फिर अपने जवाहिरात को बेंच और किले के खज़ाने तथा और अलतूनिया के जवाहिरात वगैरह की मदद से फौज भर्ती करने लगी।''

(उक्त उद्धरण में भी पाठक देखेंगे कि किशोरी लाल गोस्वामीजी ने आज के शब्द

'जवाहरात' और 'बेच' की बजाए 'जवाहिरात' और 'बेंच' का प्रयोग किया है।)

कोई साल भर के बाद रज़िया पुनः दिल्ली पर चढ़ाई करती है परन्तु विजय उसके नसीब में नहीं थी। वह अपने भाई (तत्कालीन शासक) मुइज्जुद्दीन बहराम के हाथों मारी जाती है। एक महान वीरांगना का यह अंत इतिहास की एक बड़ी त्रासदी थी। क्योंकि रज़िया का शासन न्यायप्रिय, धर्मनिरपेक्ष और जाति निरपेक्ष था तथा जन साधारण में वह असाधारण रूप से लोकप्रिय शासिका थी।

अपने समय का यह एक अत्यन्त लोकप्रिय उपन्यास है। आज भी उम्मीद है कि इस नए संस्करण को पाठक चाव से पढेंगे। पुस्तक के फ्लैप पर यह उचित ही कहा गया है कि आज सौ वर्षों से अधिक बाद इस उपन्यास का पुनर्प्रकाशन एक ऐतिहासिक घटना है। इस एक शताब्दी में हिन्दी का ऐतिहासिक उपन्यास कहीं से कहीं पहुँच गया है। मधुरेश द्वारा सुसंपादित यह सुरुचिपूर्ण और आकर्षक संस्करण हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास की लम्बी विकास-यात्रा के अन्तराल को रेखांकित करेगा। प्रेमचंद से पूर्व के महत्वपूर्ण हिन्दी उपन्यासों को पुनः उपलब्ध कराने की दिशा में यह ऐसी पहलकदमी है जिसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

देवकीनन्दन खत्री ने ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासों का ढेर लगा कर हिन्दी पाठकों की संख्या में अभिवृद्धि की। जनता ने उनके उपन्यास 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी। लेकिन किशोरी लाल गोस्वामी ने विविध प्रकार के उपन्यास लिखे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इन्हें साहित्य की दृष्टि से हिन्दी का पहला उपन्यासकार माना है। किशोरी लाल गोस्वामीजी हिन्दी के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार थे। वैसे आचार्य शुक्ल ने यह शिकायत अवश्य की है कि वे निम्न कोटि की वासनाएँ प्रकाशित करने वाले दृश्य चित्रित करते हैं। विशेष रूप से 'चपला' उपन्यास के सम्बन्ध में उस समय इस बात की शिकायत हुई थी तथापि ऐसे वासनापरक दृश्य 'रज़िया बेगम' उपन्यास में भी कम नहीं हैं और वे चटकीले भी हैं। शुक्ल जी के नैतिक आग्रह अत्यन्त प्रबल थे और वह दौर भी ऐसा ही था। आजकल के उपन्यासों में अक्सर ऐसे दृश्य होते हैं और कोई उनकी शिकायत नहीं करता।

किशोरी लाल गोस्वामी ने कुल 65 छोटे-बड़े उपन्यास लिखे हैं जिनमें—तारा, चपला, तरुण तपस्विनी, रज़िया बेगम, लीलावती, राजकुमारी लवंगलता, हृदयहारिणी, हीराबाई उल्लेखनीय हैं। उनके ये सभी उपन्यास रोचक हैं। इनमें 'रज़िया बेगम' अपने समय का सर्वाधिक लोकप्रिय और रोचक उपन्यास है। शिल्प, शैली, वर्णन कला, चरित्र चित्रण और ऐतिहासिकता की दृष्टि से भी मनोरम है। तथापि उनके अन्य उपन्यासों की तरह इस उपन्यास में भी कालदोष के उदाहरण हैं। मधुरेश ने अपनी सारगर्भित भूमिका में उनका उल्लेख किया है अतः उन्हें यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है। मधुरेश ने यह भी लिखा है कि वे भले ही अपने पाठकों को इतिहास की जानकारी देने को महत्त्व देते हैं, इतिहास की तथ्यपरकता और प्रामाणिकता को वे अधिक महत्व नहीं देते। उक्त सीमाओं के बावजूद श्री किशोरी लाल गोस्वामी अपने उपन्यासों में इतिहास, रोमांस, औपन्यासिकता और वास्तविकता के प्रयोग द्वारा अद्भुत रचनात्मक कर्म तथा कौशल का परिचय देते हैं। 'रज़िया बेगम' उपन्यास प्राचीन होकर भी पुराना नहीं लगता। उसमें कसी हुई औपन्यासिकता है, रचनाधर्मिता है, ताज़गी है और कुशल किस्सागोई है। कुल मिलाकर यह एक सरस और लोकप्रिय साहित्यिक रचना है और नई पीढ़ी के लिए एक पुलक भरा सौगात भी।

सुलताना रज़िया बेगम/ किशोरी लाल गोस्वामी/ सं. मधुरेश/ अनुभव पब्लिकेशंस, 1/10753, प्रथम तल, गली नं. 3, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

122, दीन अपार्टमेंट्स, सेक्टर-4 प्लॉट नं-7, द्वारका, नई दिल्ली-110075, मो.-9810709883

कहानी

नैतिक संशय का द्वन्द्व

सुशील सिद्धार्थ

'प्रतिरोध' शैलेन्द्र सागर का पाँचवाँ कहानी-संग्रह है। शैलेन्द्र सागर की पहचान एक ऐसे कहानीकार के रूप में है जिसे पात्रों और स्थितियों की सूक्ष्म पड़ताल की बारीक समझ है। बाहरी यथार्थ को देखने-परखने के स्थान पर शैलेन्द्र सागर भीतरी सच्चाइयों को आहिस्ता-आहिस्ता उजागर करते हैं। इस प्रवृत्ति से उनके भाव जगत की खबर लगती है और सरोकार रेखांकित होते हैं। आज के जटिल कुटिल समय में भीतरी सच्चाइयों की थाह लगाना एक कठिन काम है। 'इस जुनून में', 'मकान ढह रहा है', 'माटी' और 'आमीन' के बाद अब 'प्रतिरोध' कहानी-संग्रह को पढ़कर यह कहा जा सकता है कि इस कठिन काम को शैलेन्द्र सागर ने अत्यन्त सहजता से कर दिखाया है। वे भीतरी द्वन्द्व के पारखी कथाकार हैं।

'प्रतिरोध' में नौ कहानियाँ हैं—'आधी दुनिया, आधा सच, आधे सपने....', 'स्खलन', 'क्यूँ लौट आती हैं चिड़ियाँ', 'प्रस्थान', 'सफर', 'धुंध', 'संक्रमण', 'कुछ और भी' तथा 'प्रतिरोध'। इन कहानियों की अनेक विशेषताओं में से एक है समकालीन समाज में प्रतिदिन परिवर्तित होती परिवार की परिभाषा। इसी परिभाषा में पति-पत्नी के सम्बन्ध, स्त्री-विमर्श के तीखे प्रश्न, बच्चों से दूर माता-पिता का अकेलापन, नई पीढ़ी से जुड़ी पुरानी पीढ़ी की चिन्ताएँ, घर में बुजुर्ग की स्थिति, कैरियर बनाने की जद्दोजेहद, निम्न मध्यवर्गीय परिवार की अर्थव्यवस्था, अप्रत्याशित आत्मीयता, प्रेम का अंतःसंघर्ष आदि शामिल हैं। इन कहानियों के पात्र प्रायः मध्यवर्गीय जीवन जीते हुए एक नैतिक संशय से घिरे हुए हैं। स्वीकार और नकार के बीच ठिठकी जीवन स्थितियों को कई तरह से यहाँ पढ़ा जा सकता है।

'स्खलन' पति-पत्नी के उस रिश्ते का भयावह रूप है, जिसे भारतीय समाज में निष्ठा का प्रतीक माना जाता है। दो बच्चों की माँ स्नेह एक कामकाजी स्त्री है। वर्किंग वूमन के रूप में स्नेह को निजता का जो स्पेस मिलता है वह उसके पति मनोज की पीड़ा का कारण है। हरिशंकर परसाई ने एक व्यंग्य में लिखा है कि स्त्रियों को जो ऑफिस वगैरह में काम करने की आजादी मिली है उसका मुख्य कारण है कि एक की कमाई से घर नहीं चलता। पुरुष वर्चस्व की ऐंठन वही है। स्नेह और मनोज ने प्रेम विवाह किया है.... और प्रेम ही नदारद है। स्नेह की तनख्वाह पर प्रतिमाह कब्जा करने वाले मनोज ने उसे नरक में डाल रखा है। स्नेह अपनी डायरी में कुछ भावनात्मक उद्धरण नोट करती है जिन्हें विवाहेतर रिश्तों का संकेत मानकर मनोज शक की आग में परिवार का सुख-चैन झोंक देता है। स्नेह के वजूद पर होने वाले आर्थिक, भावनात्मक और दैहिक अत्याचारों को लेखक ने अत्यन्त मार्मिकता से चित्रित किया है। स्नेह पर उसका पति किसी बलात्कारी की भांति रोज टूट पड़ता है। 'स्खलित होकर वह एक तरफ ढह गया है। स्नेह की ओर देखे बिना वह उठा है नंग-धड़ंग....। विवस्त्र स्नेह पर उसने अजीब-सी निगाह डाली है, वितृष्णा और हिकारत भरी....।' यह कहानी स्त्री विमर्श को एक नया आयाम देती है।

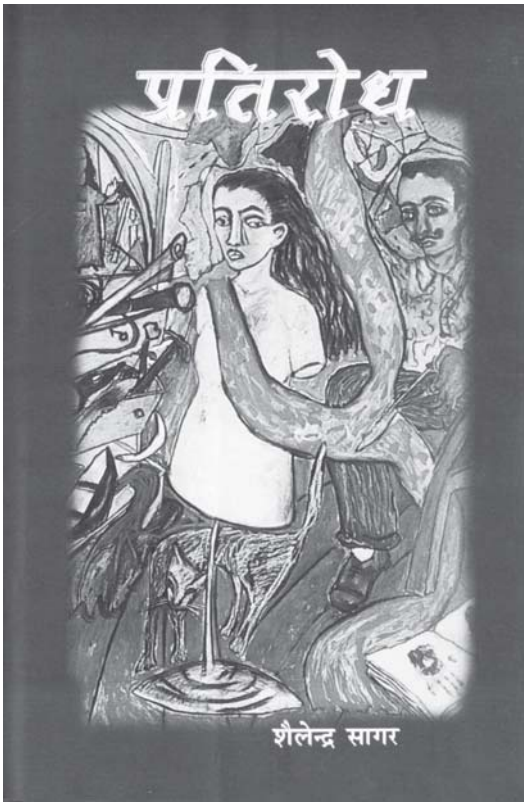

'आधी दुनिया, आधा सच, आधे सपने....' की मनीषा बैंक में नौकरी करती है। रेखा उसकी सहकर्मी है। अनुभा विश्वविद्यालय में पढ़ाती है और अविवाहित है। मनीषा की भतीजी नेहा का अपना अलग संसार है। यह कहानी स्त्री के पारम्परिक जीवन और उसमें आधुनिकता के प्रवेश का आख्यान है। दाम्पत्य, विवाहेतर रागात्मक रिश्ते और सुरक्षित सेक्स जैसे मुद्दों को इस रचना में उठाया गया है। कई बार लगता है कि अविवाहित अनुभा विवाहित मनीषा और रेखा की तुलना में ज्यादा सुरक्षित और समृद्ध है।

आज ऐसे परिवार बढ़ते जा रहे हैं जिनके बच्चे बड़े होकर, पढ़-लिख कर दूर नौकरी कर रहे हैं.... और माता-पिता उनकी सूचनाओं या साथ बिताए समय की स्मृतियों के सहारे दिन काट रहे हैं। शैलेन्द्र सागर के अनुभव जगत में यह तथ्य प्रामाणिकता के

साथ शामिल है। 'क्यूँ लौट आती है चिड़ियाँ' में आरती और अरविन्द ऐसे ही माता-पिता हैं। मिनी और मनु अपने-अपने जीवन की ऊँचाइयों की ओर अग्रसर हैं। आरती और अरविन्द के हिस्से आया है–'खाली घर, खाली वक्त और खाली बरामदा....।' परिवार की सक्रियता के छोटे-छोटे विवरण देकर लेखक ने संवेदनाओं को स्पष्ट किया है। अरविन्द-आरती की ख्वाहिश कि बच्चे उनके पास आते रहें (शाम को घोंसलों में लौट आने वाले पक्षियों की तरह), किसी भी माता-पिता की इच्छा हो सकती है। इस कहानी का ही एक अध्याय मानो 'प्रस्थान' में खुल गया है। इंजीनियरिंग के बाद तनु को अमरीका में जॉब मिलता है। उसे जाना है। इस कथासूत्र का विस्तार करते हुए लेखक ने परिवार में बेटी की उपस्थिति को बखूबी रेखांकित किया है। एक तरह से यह वात्सल्य के आधुनिक रूप की कहानी में वापसी है। फोन पर बेटी को विदा करने के बाद की मानसिकता–'....अब अँधेरे कमरे में मेरी आँखें खुली हैं। उन खुली आँखों में न जाने कितनी कल्पनाएँ, कितनी आशंकाएँ, कितने भय तैर रहे हैं। जो एकाएक प्रकट होते हैं और स्वतः तिरोहित हो जाते हैं।'

'सफर' कहानी वस्तुतः अम्मा के बहाने मध्यवर्गीय भारतीय परिवार में तिनका-तिनका जोड़कर आशियाना बनाने वाली.... और फिर उसमें अपदार्थ हो जाने वाली स्त्री की गाथा है। बेटे समर्थ हैं फिर भी अम्मा उनके बीच एक असमंजस की तरह हैं। अम्मा का जिस आखिरी वस्तु पर मालिकाना हक है उसे भी हथियाने का षडयंत्र जारी है। कहानी सवाल उठाती है कि क्या अंततः यहीं तक पहुँचता है एक औसत व्यक्ति की जिन्दगी का सफर! 'धुंध' नई पीढ़ी की दिक्कतों और विडम्बनाओं को प्रकट करती है। नाक की सीध में दौड़ने को अभिशप्त युवाओं की जीवनचर्या अत्यन्त पठनीय है। साथ ही, इन युवाओं के माता-पिता जिस जानलेवा तनाव में जीते हैं उसका चित्रण लेखक ने पूरी सहृदयता से किया है। 'संक्रमण' के केन्द्रीय चरित्र सतीश बाबू किस तरह सीमित आय में बेलगाम मंहगाई को बहलाते फुसलाते हैं, यह पढ़ना दिलचस्प है। 'कुछ और भी' एक पुरानी ग्रन्थि को नयी तरह से खोलती है। प्रिया के मरने के बाद अविनाश अम्मा और बेटे मनु के साथ कई अर्थों में

अकेला हो गया है। क्या विमाता मनु और अम्मा को आत्मीयता का वातावरण दे सकेगी। जब रागिनी से विवाह के बाद अविनाश का घर-परिवार कुछ और भी मोहक हो उठता है तब रिश्तों का नया अर्थ खुल जाता है। यह कहानी पुरानी सोच का प्रत्याख्यान है। 'प्रतिरोध' संग्रह की शायद यह सबसे अच्छी कहानी है। दीपंकर और नंदिता के बीच एक प्रौढ़ प्रेम विकसित हो चुका है। नंदिता बेटे नितिन के हॉस्टल जाने के बाद अकेली हो गई है। ऐसे में एक गोष्ठी में दीपंकर से मिलने पर फोनवार्ता और मेल मुलाकात का सिलसिला चल पड़ता है। दोनों को एक दूसरे की जरूरत है, फिर भी, '....उसके अंदर यह कैसा प्रतिरोध है, किसका प्रतिकार है यह, नंदिता अक्सर सोचती है....।' फिर प्रतिरोध की दिशा मुड़ जाती है। हिचक टूटती है और नंदिता अपने भीतर जर्जर सामाजिक स्वीकृतियों के प्रतिरोध की पुख्ता ज़मीन तैयार करती है। स्त्री किस तरह अन्तः संघर्ष से उबर कर अपनी अस्मिता के आलोक में कोई फैसला करती है, यह रचना उसका उदाहरण है।

'प्रतिरोध' संग्रह वस्तुतः शैलेन्द्र सागर के कहानीकार का एक परिपक्व रूप प्रस्तुत करता है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता या ताकत है कि वे उन अनुभवों में ताँक-झाँक नहीं करते जिन्हें सेकेंड हैण्ड कहा जा सकता है। इसीलिए ये कहानियाँ पारिवारिक मूल्यों में आ रहे परिवर्तनों को बताती हैं, जाहिर है इस क्षेत्र में सागर की खासी गति-मति है। वे किसी विमर्श से प्रेरित होकर भी नहीं लिखते। कथा के बीच से विमर्श को आकार मिले तो ठीक है। संग्रह की ज्यादातर कहानियों में स्त्री की दुनिया के छोटे-बड़े बिम्ब हैं, लेकिन बयानबाजी नहीं है। 'प्रस्थान' में प्रत्यक्ष तौर पर तो विदेश जाती बेटी के प्रति वात्सल्य का आवेग है, किन्तु मूलतः यह रचना एक लड़की के प्रति अनिश्चित परिवेश की खबर भी देती है। अभी वह समय नहीं आया कि शिक्षित, आधुनिक और आत्मनिर्भर हो जाने से ही स्त्री सुरक्षित हो जाय! कई कहानियों में सागर ने कामकाजी स्त्री के प्रति पति के रवैये की बात उठाई है। क्या आर्थिक रूप से सुदृढ़ स्त्री परिवार और समाज में अपेक्षित सम्मान पा रही है! सागर की निष्ठा उन जीवन मूल्यों में है जो प्रगतिशील परम्परा की श्रेष्ठ पहचान हैं। जैसे परिवार के बीच आत्मीय रिश्तों की परम्परा। इस पहचान पर होने वाले आघात उनके भीतर बेचैनी भर देते हैं। क्योंकि किसी निर्णय पर पहुँचना आसान नहीं है, इसलिए इन सन्दर्भों में एक नैतिक संशय का द्वन्द्व लेखक को आक्रान्त कर देता है। स्वाभाविक है इससे भी यथार्थ का जरूरी पक्ष उजागर होता है। सागर अपनी इन कहानियों में यथार्थ और पूर्वस्वीकृतियों के बीच आन्दोलित मानव मन को भली-भांति व्यक्त कर सके हैं। इसके लिए उनके पास सहज भाषा है, यद्यपि उनका झुकाव भाषा की तत्सम पद्धति की ओर ज्यादा है। सहज भाषा में कहानी का एक-एक मूड उन्होंने अंकित किया है। क्या हम यह आशा करें कि वे अपनी अगली रचनाओं में इस परिचित यथार्थ का अतिक्रमण करेंगे या अनुभव संसार के अधिक विस्तृत होने का प्रमाण देंगे? शैलेन्द्र सागर की रचनात्मक यात्रा के तमाम पड़ाव इसका भरोसा दिलाते हैं। समकालीन कहानी की दुनिया में उनका यह नया संग्रह मानवीय आत्मीय रिश्तों में इस बीच आई दरारों का प्रतिरोध तो है ही, आज जिस तरह चालू टाइप की कहानियाँ लिखी जा रही हैं, उसका निषेध भी है।

प्रतिरोध/ शैलेन्द्र सागर/वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य 200.00

बी-2/8बी, केशवपुरम, लारेंस रोड, नयी दिल्ली-110035/मो. 9999870958

कहानी

व्यवस्था की सपने उधेड़ती कहानियाँ

नुरुद्दीन मुहम्मद परवेज

सच कहा जाए तो कहानी को किसी अन्तर्वाह्य विश्वसनीयता की अथवा उसके भीतर निहित वास्तविकता के सत्यापन की दरकार नहीं। कहानी का यथार्थ उसका अपना, सर्वथा निजी और स्वायत्त यथार्थ है, पूरी तरह स्व-प्रमाणिक यथार्थ जीवन, वास्तविकता के धरातल पर खड़ा हुआ किन्तु स्वतन्त्र।

आधुनिकता के निर्माण में रौंद दिए गए हाशिए का जीवन संजय की कहानियों के कथानक का निर्माण करता है। वे यथार्थ की तीव्रता और वक्रता को पहचानकर अपनी कहानियों का प्रस्थान निर्मित करते हैं। संजय कुंदन का पहला कहानी संग्रह 'बॉस की पार्टी' की ग्यारह कहानियाँ, कहानी के तंग जुगराफिये को बार-बार लाँघती हैं और बड़ी आसानी से समय के आर-पार देखती हैं। वे एक ओर राजनैतिक तानाशाही के दाँवपेंचों को समझती हैं तो दूसरी ओर स्थानीयता व वैश्विकता के द्वन्द्व से उभर रही नई सामाजिकता को भी ये रेखांकित करती हैं। राजनैतिक शब्दाडम्बर से मुक्त, किन्तु उसके विवेक से लैस यह रचनाकार अपने अनुभवों के भरोसे, अपने प्रत्यक्ष दैनिक यथार्थ की कहानी कहने का जोखिम उठा रहा है।

संजय अपनी कहानियों में समकालीन राजनीति का विकृत रूप एवं उससे उत्पन्न शहरी जीवन की त्रासदियों को धीरे-धीरे बोलते हुए क्रमशः उस समग्र परिप्रेक्ष्य को मूर्तिमान कर देते हैं जिसमें कि आज का परिवार घुट रहा है, टूट रहा है। 'गांधी जयंती', 'मेरे सपने वापस करो', 'चिड़ियाघर' और 'कभी नहीं आएगी गंगा' जैसी कहानियाँ गन्दी राजनीति के तलहट की ओर इशारा करती हैं और यह भी बताती हैं कि शोषण की चक्की कितनी मजबूत होती जा रही है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के भीतर के पाखण्ड, झूठ और खोखलेपन को कथाकार ने खूब विस्तार से उघाड़ा है, जिसमें आम आदमी का जीवन संघर्ष जहाँ उसे तोड़ देता है और वह अपनी लड़ाई में हार जाता है, वहीं गांधी को कायरता का पर्याय मानने वाला प्रभुदयाल सत्ता की सीढ़ियाँ चढ़कर मन्त्री बन जाता है। यह प्रभुदयाल किसी एक पार्टी का नहीं बल्कि पूरे भारतीय राजनीतिक तन्त्र का ही प्रतीक है। केन्द्र सरकार हो या राज्य सरकार चाहे किसी भी पार्टी की क्यों न हो, लगभग प्रभुदयाल जैसे पात्र ही मन्त्री/सांसद/विधायक मिलते हैं। 'मेरे सपने वापस करो' कहानी क्रान्ति की अगुवाई करने वाले कामरेड विद्याधर स्वार्थपरक राजनीति में

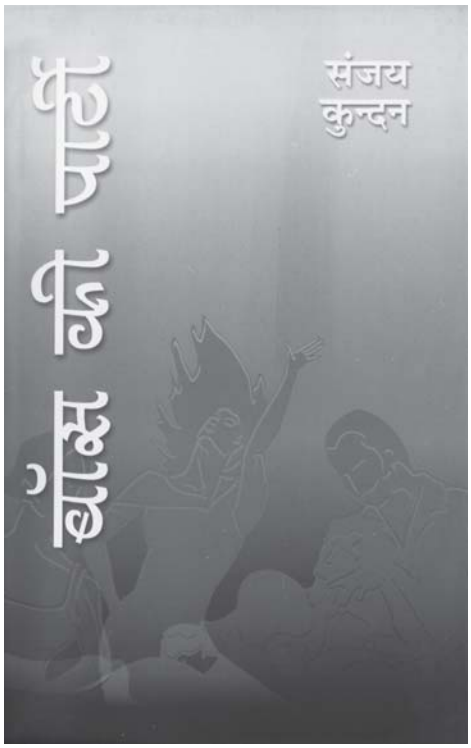

पड़कर, एक बड़े घोटाले में पकड़ा जाता है। कथाकार कामरेड अजय के माध्यम से वामपंथी संगठनों के तह तक जाकर उनमें उठ आई स्वार्थपरता एवं उनकी विफलता पर व्यंग्य करता है। कथाकर के इस व्यंग्योक्ति में मार्क्सवाद धूमिल पड़ गया है, इसका खुमार उतर गया है, इतना ही नहीं, विषाक्त राजनीति, अवाम की मुक्ति और वामपंथी बिरादरी के संघर्ष को लेकर कथाकार ने जो यहाँ तर्क किए हैं उनमें एक वैचारिक निभ्रान्तता और सुस्पष्टता है। 'चिड़ियाघर' कहानी सिर्फ गरीबी और बेकारी ही नहीं बल्कि एक आदमी के सरकारी तन्त्र का शिकार होकर जिन्दगी के मुख्यधारा में अलग-थलग पड़ जाने की कथा है। विकृत सरकारी तन्त्र के लोग उसे चिड़ियाघर के हिसंक जानवरों से भी क्रूर प्रतीत होते हैं जो व्यवस्था को हिंसक पशुओं से भरे जंगल में परिवर्तित कर देते हैं।

साम्प्रदायिक द्वेषभाव की आग में लालच की रोटी सेंकने की विषाक्त राजनीति की चौतरफा व्याप्ति से कोई भी आदमी सुरक्षित नहीं है। 'सुरक्षित आदमी' इस व्यवस्था को चित्रित करने वाली एक अलग कहानी है। साम्प्रदायिकता की ताजा घटनाओं की पृष्ठभूमि पर लिखी गई यह कहानी फासीवादी भय के वातावरण की इंसानियत परस्त चेतना की कहानी है।

'झीलवाला कम्प्यूटर', 'बॉस की पार्टी', 'उम्मीदवार', 'के.एन.टी. की कार', 'ऑपरेशन माउस', समान संवेदनाओं की पूरक कहानियाँ हैं। इनमें बाजारवाद बेरोजगारी और संस्कारों पर बात की गई है। ये कहानियाँ पाठक को बताती हैं कि पूँजी बाजार में जारी अमानवीयकरण की प्रक्रिया इतने सूक्ष्म स्तरों पर हमारी मनःस्थितियों, संवेदनाओं और

कहानी

संकटग्रस्त समाज के बीच 'डर' के कारणों की पहचान

क्षितिज शर्मा

नैतिकबोध के गुमनाम तरीके से नष्ट कर रही हैं कि हम अपनी ही नृशंसताओं को चकित भाव से देखते रह जाते हैं। इनमें आज के आदमी की मानसिकता, पूँजीवादी आधुनिकता व समाजवादी यथार्थ की तस्वीर, आइने की तरह साफ नजर आती है। संजय कुंदन के कहानियों की जमीन काल्पनिक नहीं, वास्तविक अनुभव की जमीन है—इसमें अवसरवादी, अनैतिक राजनीति का दर्शन भी है और जिन्दगी की हर धड़कन भी। इस संग्रह की कहानियाँ जीवनगत् सच्चाइयों से सामाजिक विसंगतियों से, वर्तमान राजनीतिक विकृतियों से बौखलाए हताश, निराश और बदहवास मनुष्य से मुठभेड़ कराती है। ये कहानियाँ व्यवस्था की तुरपनें उधेड़ती हैं।

मीर के बहत्तर नश्तरों की तरह संजय की कुछ कहानियाँ जेहन के एक कोने को हमेशा के लिए घेर लेती हैं, दिल में तराजू हो जाती हैं। संजय की कोई भी रचना हमें उस जमीन पर ले जाकर खड़ी करती है, जहाँ हम खुली आँखों से यथार्थ का पर्यवेक्षण करते हैं। कथाकार देश की परिस्थितियों से सिर्फ परिचित ही नहीं हैं बल्कि उसमें इतना डूबा है कि उसकी कलम कहानी की प्रत्येक घटना को हमारे सामने जीवंत कर देती है। सरलता और बोध के खरेपन से रची गई इन कहानियों को जटिलता के विरुद्ध सरलता के खोए हुए सौन्दर्य की पुनर्प्रतिष्ठा का अभियान मानकर भी पढ़ा जा सकता है।

बॉस की पार्टी/ संजय कुंदन/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/ मूल्य : 180.00

5/एम.आई.जी. कॉलोनी, मछली बाजार, पुराना कटरा, इलाहाबाद-211002

इधर कहानी में सक्रिय नई पीढ़ी कथा फार्म की जड़ता को तोड़ने का प्रयास करती दिखाई देती है। नए फार्म और शिल्प के प्रति अतिरिक्त सजगता और सप्रयास आग्रह प्रायः कथ्य को उभरने नहीं देता। कथ्य के कमजोर पड़ने से भाषा का नयापन या खिलंदड़ापन परिस्थितियों और परिवेश से बहुत नजदीक से पहचान व परिचय तो करा देता है—पाठक उस परिवेश में अपनी उपस्थिति भी महसूस करने लगता है और वह स्थितियों के साथ एकाकार भी हो जाता है, पर लम्बे समय तक भीतर से झकझोर दिए जाने के सत्य से साक्षात्कार न हो पाने के कारण अन्त में कहीं ठगा हुआ-सा भी महसूस करने लगता है। भाषा अपनी नवीनता में अगर कथ्य को भी सही अनुपात में उभार ले जाए तो कहानी अविस्मरणीय बन जाती है, नहीं तो भाषा कहानी को अद्‌भुत पठनीतया दे देने के बावजूद 'कुछ छूट रहा है' के अहसास से बचा नहीं पाती। दूसरा, इधर कहानी की भाषा में जो एक अंडरटोन का व्यंग्य आ रहा है—स्थितियों के भीतर छिपी विद्रूपता का उपहास करने की प्रवृत्ति प्रमुखता पा रही है, वह अपने-आप में खास तरह की सावधानी की माँग भी करती है। व्यंग्य और उपहास का पुट कई बार उस निरीह पात्र को भी अपनी धार तले ले आता है, जिसे वास्तव में सहानुभूति और संवेदना की आवश्यकता हे। यह संवेदना ही होती है जो कहानी के कथ्य और उसके अभीष्ट को स्पष्ट तौर पर खड़ा करने के लिए जरूरी है। व्यंग्य अगर अपनी नवीनता और प्रधानता को ही स्थापित करने के आग्रह पर तुल जाए तो कहानी कथ्य की गौणता के कारण अपने होने के मजबूत दावे को पेश करने से वंचित रह जाती है।

अभी मेरे सामने दो युवा कहानीकारों के सद्यःप्रकाशित संग्रह हैं—मनोज कुमार पाण्डेय की 'शहतूत' और विमल चन्द्र पाण्डेय का 'डर'। मनोज कुमार पाण्डेय के पहले कहानी संग्रह 'शहतूत' को पढ़ते हुए कहानी के सम्बन्ध में कुछ ऐसे ही विचारों से सामना होता रहा। नई पीढ़ी की रचनाओं को पढ़ते समय एक अलग तरह की उम्मीद हमेशा मन में रहती है कि नई भाषा के साथ नए अनुभवों की रचना सामने आएगी। नए अनुभवों से तात्पर्य यह नहीं है कि अब तक के देखे-पढ़े अनुभवों से हटकर कुछ अलग होगा। तात्पर्य यह है कि लेखक उन अनुभवों को किस तरह ग्रहण करता है और संप्रेषित करता है। मनोज कुमार पाण्डेय की कहानियों में जो स्मृतियाँ हैं वे अपने समय के साथ आज के समय को भी खड़ा करती रहती हैं। इस तरह वे एक सामाजिक विकास या ह्रास की तुलनात्मक दृष्टि भी प्रस्तुत करती हैं। इनकी भाषा में छिपा जो व्यंग्य है वह अपने-आप में एक टिप्पणी भी है कि सामाजिक विश्वास जो किसी-न-किसी रूप में जीवन संचालन के कारक बन जाते हैं, मनुष्य की स्वतन्त्र सोच और विकास में एक तरह से बाधक भी सिद्ध होते हैं। 'बेहया'

कहानी में 'मैं' अपने बचपन की स्मृतियों में अपने विगत जीवन के अनुभवों को आज के सन्दर्भ के रूप में पा रहा है और पिता द्वारा उसके छोटे भाई की शिकायत में अपनी ही विजय देख रहा है, जो वह नहीं कर सका, वह उसके भाई ने कर दिया। समय के परिवर्तन ने भीतर व्यवहार में भी बदलाव ला दिया है। कहानी में उसकी स्मृतियों के झरोखों से गाँव अपने परिवेशगत यथार्थ के रूप में ही नहीं दिखता, उसका सांस्कृतिक, व्यावहारिक और सामाजिक विश्वास भी अपनी मौजूदगी दर्शाता जाता है तो एक कालखण्ड 'बेहया' के माध्यम से उसकी सार्थकता और व्यथर्ता का अहसास भी कराता रहता है। 'बेहया' यहाँ प्रतीक के रूप में आया है। सौन्दर्य और असौन्दर्य का निर्धारण वस्तु की उपयागिता से सिद्ध होता है। 'बेहया' का उजड़ना उसकी उपयोगिता के विकल्प मौजूद हो जाने के कारण है पर स्मृतियों में उसकी उपस्थिति अपने अतीत को देखना तो है ही, अपने वजूद और पहचान को बरकरार रखने का भ्रम भी है।

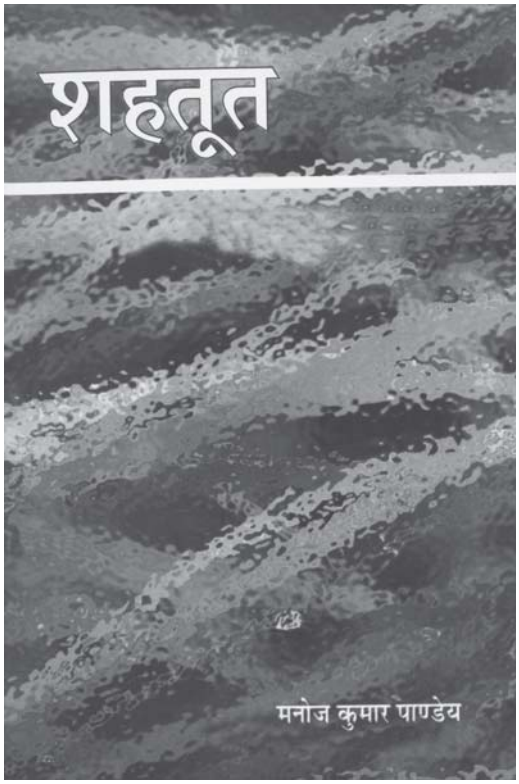

'चन्दू भाई नाटक करते हैं' में चन्दू भाई अपने पसन्द की जिन्दगी जीने और थोपी जा रही जिन्दगी के द्वन्द्व में एक तरह से अपने को ही खोजने के युद्ध में रत हैं 'हट्टे-कट्टे खूबसूरत चन्दू भाई को एक अदद प्रेमिका के लिए नाटक करने जैसा नाटक क्यों करना पड़ता।' प्रेमिका की यह तलाश अपने निजत्व के क्षणों की तलाश प्रतीत होती है। हर होनहार बेटे से परिवार की जो अपेक्षाएँ होती हैं कि वह कुछ बनकर दिखाएगा, उससे उसकी जिन्दगी तो सुधरेगी ही, परिवार भी एक सम्मानजनक स्थिति में आ जाएगा। चन्दू भाई के पुलिसमैन पिता उम्मीद लगाए हुए हैं कि पढ़-लिखकर चन्दू भाई दारोगा बन जाएँगे। उसके लिए जो घूस-रिश्वत देनी पड़ेगी, उसका इन्तजाम उनके पास है। उन अपेक्षाओं की सख्ती में और पारिवारिक प्रतिष्ठा के दबावों में चन्दू भाई का निज और स्वतन्त्रता कहीं दबती जा रही है। चन्दू भाई सबसे अकेले पड़ गए हैं। उनका दबा व्यक्तित्व जब-जब उभार लेने की कोशिश करता है सामाजिक मान्यताएँ-व्यावहारिकताएँ और सामाजिक मान्यताओं के तहत उपजी पारिवारिक अपेक्षाएँ चन्दू भाई के व्यक्तित्व को कहीं गहरे दफनाने पर उतारू हो जाती हैं। उन सब विश्वासों के रूपों और परिणामों को व्यक्त करने के लिए भाषा जबरदस्त हथियार के रूप में आती है। वह मनुष्य विरोधी मानसिकता को व्यंग्य के रूप में खारिज करती जाती है। पर जैसा कि ऊपर संकेत दिया गया है कि भाषा अपने होने को सिद्ध करने के अतिरेक में निरीह पारी को भी उपहास का कारण बनाने लगती है, उसका शिकार चन्दू भाई भी हैं। व्यंग्य को प्रमुखता देती भाषा संवेदना को क्षीण करने का काम भी करने लगती है। फिर भी चन्दू भाई का चरित्र नाटक को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुनकर कैरियर की सम्भावना का जो प्रयास करता है, उसके ध्वस्त होने का नाटक झकझोरता जरूर है।

इसी के समानान्तर उनकी कहानी 'यात्रा' को भी रखा जा सकता है। कहानी के आरम्भ में ही थीम अपना संकेत देने लगती है—'क्या आपके साथ कभी ऐसा हुआ है कि आपको नींद में जाने से इसलिए डर लगे कि नींद में जाते ही आपका यथार्थ नींद नहीं, सपना हो जाए।' यहाँ डर, नींद, यथार्थ और सपना ऐसा कोलाज बनाते हैं कि समसामयिकता का जीता जागता दृश्य सामने आ जाता है। यदि चन्दू भाई नाटक करते हैं, में नाटक अभिव्यक्ति का माध्यम बनकर भी कहीं नहीं पहुँच रहा होता तो 'यात्रा' में सृजन वहीं काम करता है। बचपन की स्मृतियाँ और प्रेम की निजता वाली चाह यहाँ भी श्याम को वर्तमान के साथ स्मृतियों का ऐसा ताना-बाना-सा मिला है कि वह किसी राह पर मजबूती से चलने की बजाय, असफलताओं के पीछे के कारणों में उन स्थितियों से रू-ब-रू हो रहा है जो उसके जेहन में असफलता का कारण बन रहे हैं। राजनीतिक पार्टियों की तथाकथित प्रतिबद्धता से अलग वे एक सृजन-मंच बनाकर बेहतर समाज बनाने और अपने को सार्थक करने के लिए तत्पर एक संगठन बनाते हैं। पर जिन्दगी की जद्दोजहद और पारिवारिक जिम्मेदारियाँ उन्हें उसी दौरे में ले जाने को तत्पर हैं जिस दिशा को सफल जीवन की राह माना जाता है। मित्रों के अलग-अलग व्यावहारिक रास्ते पकड़ने के बाद फ्रीलांसिग करने की ठान बैठे श्याम को भी जल्दी पता चल जाता है कि समझौता ही एकमात्र रास्ता रह गया है। जो संस्थान साहित्य और संस्कृति के संवर्धन-संरक्षण के लिए कुछ खास करना चाहता है, यह एक ऐसे युवक को ढूँढ रही है जो सांस्कृतिक गतिविधियों का आयोजन कर सके। श्याम जब अपने को प्रस्तुत करने पहुँचता है तो उसे यथार्थ का पता चलता है। यथार्थ, सपना और नींद एक-दूसरे के समानार्थक भी हैं और विरोधी भी। इस निरपेक्ष को सापेक्ष करने की दृष्टि कहीं आदमी के भीतर ही पनपती हैं। उसे सकारात्मक या नकारात्मक दिशा देने का काम उसकी वे परिस्थितियाँ करती हैं जो उसे कहीं भी किसी भी हालत में समझौता कर लेने की सीख दे रही होती हैं। यानी एक सामाजिक और व्यवस्थागत ढाँचा भीतर के उत्साह और सृजनात्मक शक्ति को धीरे-धीरे अपने वश में कर लेता है और व्यक्ति अनजाने ही उन्हीं सबका समर्थन करने लगता है जिन्हें त्यागकर वह अपना रास्ता चुनने का निश्चय किए होता है। आदमी के निरीह परवश होने की यह दास्तां उसी को हास्यास्पद बना देती हैं और नींद का यह डर जैसे उसके व्यक्तित्व का ही हिस्सा बन जाता है। व्यवस्था जैसे चाहे उसे वैसे मरोड़ सकती हो 'यात्रा' में वह वहाँ नहीं रह पाता, यात्रा उसे अपने अनुकूल बना देती है।

सार्थक जिन्दगी की तलाश में आदमी का अकेले पड़ जाने और निरीह होकर जो प्राप्त हो रहा है, उसी को अपनाने के मानसिक द्वन्द्व में समाज और स्थितियों का अवलोकन कर एक सत्य के करीब पहुँचने का स्वर इस संग्रह की करीब सब कहानियों में मौजूद है। बचपन और यौवन के अनुभव लगभग समान होते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर इनके निहितार्थ अलग-अलग से दिखाई पड़ते हैं। 'शहतूत' एक तरह से प्रतीकात्मक कहानी है। शहतूत की मिठास के अनुभव में शहतूत अकेला नहीं है। यह सापेक्ष है तो निरपेक्ष भी है। शहतूत के वातावरण में तमाम दुर्गन्ध समा गई है पर उसकी मिठास का अहसास आदमी के भीतर बसी मिठास के विश्वास के कारण है। यह दुर्गन्ध क्या है? स्वच्छता और स्वतंत्रता को तमाम तरह की मान्य मर्यादाओं से घिरे एक बाड़ का सा ठहराव। बालपन में मिले-दिखे गाँव-जंगल, कुआँ, मास्टर साहब, साथी और जातीय श्रेष्ठता आदमी को आँकने और मान देने के मापदंड या तो उसे परम्परावादी बना देते हैं या जड़ मान्यताओं के खिलाफ खड़ा होने का माद्दा दे देते है। शहतूत की प्रतीकात्मक उपस्थिति परम्परागत समाज की परतें खोलने के अलावा मिठास का अर्थ भी खोल देती हैं। कहानी में स्मृतियों का सहारा लिया गया है जो विश्वासों और मान्यताओं में सामाजिक इतिहास ही है। समाज की खासकर देहात के समाज की जो अपने विश्वासों और तथाकथित मर्यादाओं में ज्यादा जड़ है, लगभग हर कहानी में विवेचना की गई है। शहतूत में तो आरम्भ में ही इसे स्मृतियों का हिस्सा कहा गया है। अन्त में शंका व्यक्त की गई है, आगे हो सकता है तुम किसी ऐसे जंगल में जाकर बस जाओ, जहाँ शहतूत क्या मछली, मेंहदी, इमली, बढ़हल या कमल जैसी चीजें सपनों में भी तुम तक न पहुँच सकें। कहने का तात्पर्य यह है कि दुनिया जो रूप होने जा रहा है, भौतिक स्तर पर भी और वैचारिक स्तर पर भी, उसमें प्रकृति अपने मूल रूप में तो नहीं ही रह पाएगी, उसके सौन्दर्य के अवशेष भी बचेंगे या नहीं, इसमें सन्देह है।

'खाल' कहानी अपने विवरण में ग्रामीण समाज की अभिव्यक्तियों और स्मृतियों से जो मुक्त है। इसमें शहरी जीवन में पनप रही एक खास तरह की मानसिकता और व्यक्तिगत उपलब्धि की आपाधापी प्रमुख है। मोबाइल का खोना, रिपोर्ट लिखने में पुलिस का व्यवहार और मोबाइल पा गए रिक्शेवाले की चालाकी और उसका सीधापन आदमी के आर्थिक स्तर पर बँटे होने का प्रतीक है। मनोहर भाई का खोए हुए मोबाइल की तलाश में विचारों को उतार-चढ़ाव और व्यक्ति आर्थिक निरीहता में कमजोर पड़ जाने पर उसे घोर अपराधी मान लेने की व्यथा पूरी व्यवस्था पर विचार करने को विवश करती है। रिक्शे वाले के रोते बच्चे की परवाह किए बगैर अपने खोए मोबाइल को प्राप्त करने की उतावली और उत्तेजना मनोहर भाई के भीतर के मनुष्य को ही मार देती है। शासन की ताकत पाए पुलिसमैन के मनोहर भाई का जो मिमियाता व्यवहार था, वह रिक्शेवाले के सामने अपने श्रेष्ठ होने के दम्भ में अमानवीयता की सीमा तक पहुँच जाता है। ये जो 'खाल' है इसके बदलने में देर नहीं लगती। यही बदलाव आदमी के भीतर का भी निर्माण कर रहा है।

मामूली कथ्यों को रचनात्मक गरिमा देने वाली इन कहानियों की भाषा तथ्यों के साथ अपना तालमेल सही बैठा लेती है। यही इनको ताजगी और पठनीयता प्रदान करती हैं।

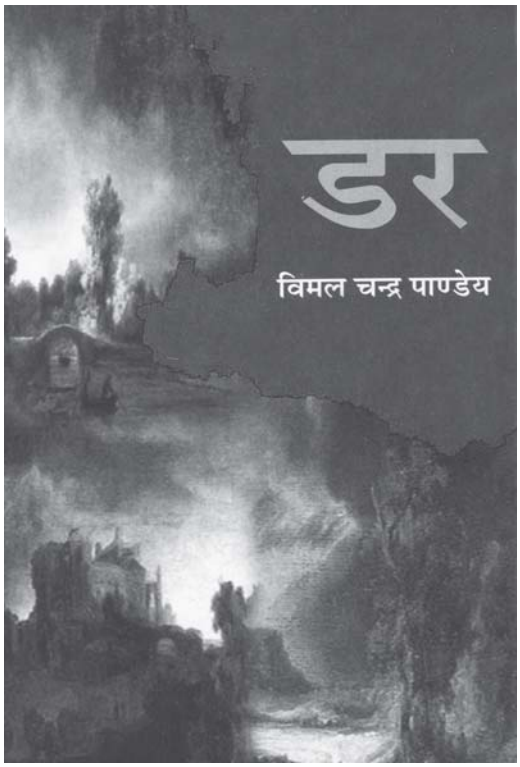

युवा कहानीकार विमल चन्द्र पाण्डेय का पहला कहानी संग्रह 'डर' काफी आश्वस्त करता है। विमल चन्द्र पाण्डेय इस समय की समस्याओं को जो विद्रूप होने के साथ-साथ पराकाष्ठा तक पहुँच गई हैं, उनका निदान उन्हीं के औजारों से खोजते दिखाई देते हैं। 'डर' को इसके उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। यह कहानी दो स्तरों पर मनुष्य के भीतरी डरों को उजागर करती है। एक स्थानीय स्थितियों से उपजी है कि कब्रिस्तान में हाजी बाबा की कब्र है जिसके बारे में स्थानीय विश्वास के साथ कहा जाता है कि हाजी बाबा रात को कब्र से निकलते हैं और राहगीरों को डराते हैं। उन पर आक्रमण करते हैं। बीमार पिता के इलाज के लिए डॉक्टर की खोज में निकली लड़की को कब्रिस्तान से ही होकर जाना है तो शुरू से ही एक भय लड़की के समानान्तर चल रहा है। यह डर लोक में चल रही उन मान्यताओं के कारण है जो धीरे-धीरे एक संस्कार का रूप ले लेती हैं। उसका असर आदमी के कार्य-व्यवहार में भी आ जाता है। क्योंकि डॉक्टर के पास पहुँचना पहली प्राथमिकता है, तो डर को काटने और दबाने के उपाय सोचती लड़की उस स्थान को पार कर ही जाती है। दूसरी स्थिति का सामना उसे तब करना पड़ता है जब शराब के नशे में धुत एक व्यक्ति उसके साथ दुर्व्यवहार करने पर उतारू हो गया है। यहाँ बलात्कार जैसी घृणित प्रवृति का नंगा चित्रण है तो संस्कारों में बसे डर के सहारे ही अपने को बचा ले जाने का साहस भी है। लड़की उसी कब्रिस्तान की ओर भागती है क्योंकि वह जानती है बलात्कार की चेष्टा करने वाला व्यक्ति भी उस हाजी बाबा के डर से मुक्त नहीं है। इस तरह कहानी लोक विश्वासों से आदमी के भीतर डर के स्थायी बने जाने की बात करती है, जो दूसरी तरफ समाज में घृणित कार्यों की तरफ बढ़ने की प्रवृति को भी अपना अधिकार मानने की वृद्धि की ओर इशारा करती है।

'चश्मे' में एक पारम्परिक परिवार है। पिता पुरातनता को ही अनिवार्य मूल्य मानने वाले हैं। पुत्र समय के साथ परिवर्तित हो रही चीजों में, उनकी उपयोगिता को बरकरार रखते हुए, नएपन का पक्षधर है। विचारों का यह टकराव दो पीढ़ियों के संस्कारों

और मान्यताओं का अन्तर है। पिता की पीढ़ी अपनी संतति को अपने आचरण का अनुसरण न करता देख मन-ही-मन कहीं दुख का अनुभव करती है। संतति की पीढ़ी इसको समझते हुए भी समझौते के किसी बिन्दु पर पहुँचने में अपने को असमर्थ पाती है। वह एक तरह के अफसोस और तनाव से ग्रस्त रहती है। पुरानी पीढ़ी जब महसूस करने लगती है कि नई पीढ़ी का रास्ता शायद समयानुसार है तो नई पीढ़ी को कुछ आश्चर्य-सा होने लगता है। मानव स्वभाव और उसी के तरह बन गए आचरण में जो विभिन्नता देखने को मिलती है उसकी अभिव्याक्त 'चश्मे' में बखूबी हुई है। कहानी किसी भी तरह के अतिरेक को नजदीक नहीं आने देती। यह उसकी भाषा की खूबसूरती के कारण हुआ है।

'मन्नत राय गजब आदमी है' उस व्यक्ति के खो जाने की कहानी है जो सामाजिक सरोकारों में स्वस्थ मूल्यों का पक्षधर था और जिसके लिए दूसरों का सम्मान सर्वोपरि था। मनुष्य होने के नाते उनकी रक्षा का दायित्व उठाने वाला वह व्यक्ति जब पाता है कि समय में इतना परिवर्तन आ गया है कि उसके लिए अपने सम्मान की रक्षा करना ही मुश्किल हो गया है, तो वह अदृश्य हो जाता है। प्रतीकात्मक रूप से वह उस दुर्लभ पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर रहा है जो पूरे मोहल्ले को अपना परिवार मानती थी और हर बुरे काम के लिए सबको समान रूप से टोकती थी। उसकी आस्था मनुष्यता के उस रूप में थी जो सामाजिक विकास और व्यक्ति के विकास के लिए भी सभ्यता और आचरण की शुद्धता को जरूरी मानता था। उसका खो जाना एक तरह से अपने अतीत, अपने इतिहास और अपनी परम्पराओं का खो जाना ही है। कहानी का संकेत स्पष्ट है कि 'गजब' आदमी अब नहीं रहा। अपने स्वार्थ और अपने सुख के लिए व्यक्तिवादी सोच पुराने मूल्यों पर हावी होती जा रही है। अपने अभीष्ट के लिए कहानी भाषा का जो रूप अख्तियार करती है उसमें व्यंग्य की प्रधानता है। व्यंग्य मुखर नहीं है। अण्डरटोन क्या है। यानी परिवर्तन में जो विद्रूपता है उस पर चोट करती है और उसी के सहारे संवेदना को एक मुकाम देती है। ऐसा नहीं है कि कहानी परिवर्तन को स्वीकार नहीं करती है बल्कि विकृत हो गए रूपों का उपहास उड़ाती है।

देखा जाए तो यही इस संग्रह की कहानियों का प्रमुख स्वर भी हैं। पीढ़ियों का टकराव यानी उनके विचारों और सोच के दायरे का अन्तर। पुरानी पीढ़ी में जहाँ असन्तोष बढ़ जाता है कि नई पीढ़ी वह नहीं कर रही जो हम चाहते हैं–राह भटक रही है, तो नई पीढ़ी उनके उपदेशों को अपने विकास और सोच की राह में अड़चन मान रही है। 'सोमनाथ का टाइम-टेबल' में धीमे स्वर का वही विरोध दिखाई दे रहा है। बेटे ने अपनी पढ़ाई के लिए टाइम-टेबल बनाया है, पिता के लिए वह कोई मायने नहीं रखता। उनके लिए पढ़ाई का मतलब है सिर्फ पढ़ाई। पढ़ाई का भी वही तरीका जो उन्होंने कभी अपनाया था। यह असन्तोष मन में एक अव्यक्त-सी दूरी बना देता है। वह दो पीढ़ियों के एकाकार होने में हमेशा बाधक रहता है। एक सत्य और भी है जो 'स्वेटर' के पिता के रूप में सामने आता है। विदेश जा रहे बेटे का कोई सामान छूट न जाए, उसको कोई परेशानी न हो, पिता को इसकी खासी चिन्ता है। जिसके पास बेटे को जाना है उसके पते और फोन की फिक्र बेटे से पिता को अधिक है। बेटा कितना भी बड़ा हो जाए, पिता की नजरों में वह हमेशा अबोध ही रहता है। उनकी यह सोच बेटे की नजरों में उन्हें कभी-कभी हास्यास्पद भी बना देती है।

'रंगमंच' कला और भूख के बीच का द्वन्द्व है। वह नाटकों का प्रेमी है। महत्त्वपूर्ण नाटकों और मण्डलियों की प्रस्तुतियों को बड़े मनोयोग से देखना चाहता है ताकि वह कुछ सीख सके और नाटकों में अभिनय के लिए प्रवेश ले सके। आर्थिक परिस्थितियाँ उसे वह नहीं करने देती जो वह चाहता है। दूसरी तरफ एक अलग वर्ग है जिसके लिए नाटक मनोरंजन का माध्यम है। पैसा उनके लिए कोई मायने नहीं रखता। नाटक देखने आना मौज-मस्ती का पर्याय है। यह माहौल और व्यवहार जिसमें लड़कियों पर दृष्टि गड़ाए रखना, नाटक को मेले की तरह चलताऊ मौजमस्ती मान लेना, उसमें कुण्ठा ही पैदा करता है। दूसरी तरफ भूख है जो बार-बार नाटक देखने की प्रबल इच्छा से ध्यान हटाकर पेट की जलती ज्वाला को शान्त करने के लिए उकसा रही है। कला जीवनोपार्जन का माध्यम बन सके यह बड़ा कठिन रास्ता है। कला के प्रति आमजन का जो रुझान है, वह कला की उपादेयता को कम करता जा रहा है। यहाँ 'रंगमंच' जीवन को प्रस्तुत करने का मंच भी बन गया है।

'उसके बादल' और 'वह जो नहीं' संग्रह के मिजाज से थोड़ा हटकर हैं। इनमें सम्बन्धों की गहराइयाँ आदमी के आचरण की मजबूरियाँ भी बन गई हैं। आन्तरिक जरूरतें प्रायः ऐसा व्यवहार करने को भी विवश कर देती हैं जो प्रचलित अर्थों में मान्य नहीं मानी जाती। पर अगर मानव मन को पढ़ने और समझने की विद्या आ जाए तो उनके अर्थ अपने आप खुलने लगते हैं।

मनोज कुमार पाण्डेय और विमल चन्द्र पाण्डेय के दोनों संग्रह की ये कहानियाँ हमें आश्वस्त करती है कि हमें अपने समय और समाज के बदलते यथार्थ को पकड़ने की क्षमता ही नहीं है उन्हें कहानी के रूप में प्रस्तुत करने का भी प्रशंसनीय कौशल है।

शहतूत/ मनोज कुमार पाण्डेय/ **डर**/ विमल चन्द्र पाण्डेय/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टिट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/दोनों पुस्तकों के मूल्य : 120.00

100/2ए, गांवड़ी एक्सटेंशन, दिल्ली-110053
मो. 9873239129

कविता

दुःख का दर्शन नहीं, अनुभूति

रेवती रमण

अम्मा से बातें और कुछ लम्बी कविताएँ' उत्तरशती के प्रगतिशील कवि भगवत रावत की चुनी हुई पन्द्रह कविताओं का नया संग्रह है। इसमें ज्यादातर ऐसी लम्बी कविताएँ हैं जो कवि के पूर्व-प्रकाशित संग्रहों से ली गई हैं, वह है–'कहते हैं कि दिल्ली की है कुछ आबोहवा और।' पूर्व कथन और समाहार के अंशों को छोड़कर तेरह खण्डों की एक विलक्षण कविता। दिल्ली पर दिनकर-बच्चन से लेकर बिल्कुल युवा कवि पंकज राग तक ने अपने-अपने उद्‌गार व्यक्त किए हैं, लेकिन भगवत रावत की चिन्ता बड़ी है, मानवीय है, यद्यपि वह भाषा की संस्कृति के भीतर की चिन्ता है। इस लम्बी कविता के दसवें खण्ड में कहा गया है–

'जब आपको अपने अलावा दूसरों की आवाजें/कम सुनाई देने लग जाए/जब आप फैसले सुनाने की आवाज में बोलने लग जाएँ/जब आप सामने से आते हुए मनुष्य को/पास आने से पहले ही सूँघने लग जाएँ/जब आप आदमी को उसकी हैसियत से पहचानने लग जाएँ/तो भले ही रहते हों भोपाल में/समझ लीजिए कि आप दिल्ली के दास हो चुके हैं।' (पृ. 154-155) यह कविता में 'दिल्ली' पर की गई एक गम्भीर टिप्पणी है। सम्भवतः अब तक की सबसे कठोर। लगता है कि दिल्ली ने संवेदनशील कवि का दिल दुखाया है। करता कोई एक है, भरना सबको पड़ता है। वैसे, एक धारणा है कि दिल्ली किसी की नहीं हुई। इसे कोई फतह नहीं कर सका। दिल्ली का अपना मौसम, अपनी हवाएँ हैं। उसकी अपनी गर्मी और ठंडक है, तापमान है। इसमें अपवाद पं. विश्वनाथ त्रिपाठी हो सकते हैं। रोजी-रोटी के चक्कर में आप वहाँ गए, वहीं रह गए पर दिल्ली उनका कुछ बिगाड़ न सकी। दिल्ली में गालिब रहते थे, जिनसे मिला था एक और दिल। एक और जुबां दिल्ली को। ऐसी सुखनवरी जिसमें दुनियाभर की आवाजें समा जाएँ। जिसमें एक आवाज यह भी है–'मरके भी चैन न आए तो किधर जाएँ।' (पृ. 137) मशहूर शेर हैं–'होने को बहुत शहर हैं हिन्दोस्तान में/कहते हैं कि दिल्ली की कुछ आबोहवा और।' दिल्ली को लेकर मुक्तिबोध द्वन्द्व में रहे–'कहाँ जाएँ। दिल्ली या उज्जैन? उनको मरणासन्न दिल्ली ले जाया गया और उनकी आखिरी साँस के साथ जागकर बैठ गई दिल्ली। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ, बाद में नहीं। यहाँ मैं वेणुगोपाल की एक छोटी कविता उद्धृत करना चाहता हूँ–

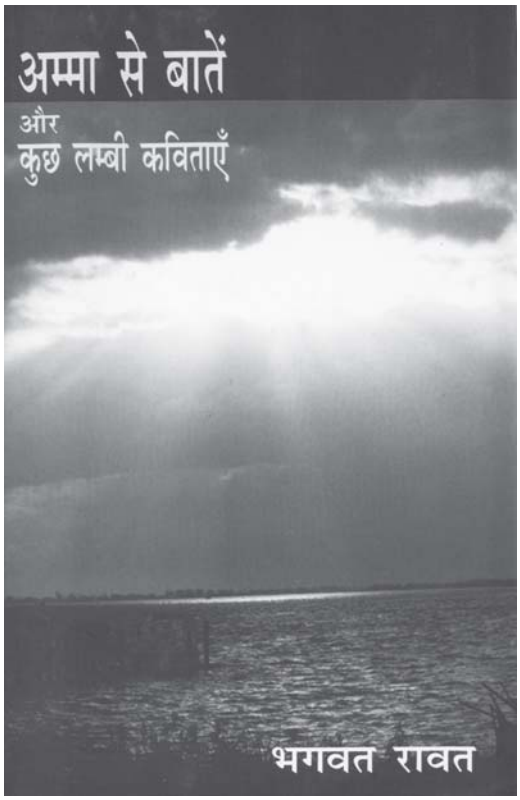

ऐसा क्यों होता है–
ऐसा क्यों होता है–
कि हिन्दी कवि
बहता या डूबता तो
अपनी कविता में है
लेकिन
उसकी लाश
अक्सर
दिल्ली में मिलती है।

दिल्ली कभी पहले यमुना नदी के बिलकुल किनारे होने के कारण विख्यात थी। जामा मस्जिद, कुतुब मीनार, संसद भवन, इंडिया गेट, राजघाट, शान्तिवन भी दिल्ली में ही है। लेकिन भगवत रावत जिस दिल्ली पर विमर्श करते हैं, वह कोई और दिल्ली है और वह सागर, जबलपुर, भोपाल, बनारस, इलाहाबाद के बाद अब शुजालपुर, इन्दौर, उज्जैन जैसी जगहों में फैलती जा रही है। एक अचूक अवसरवाद, व्यवहार में कृत्रिमता, संस्कृति के बाजार में मूल्यवान बनने की होड़ संक्रामक है। लेकिन भगवत की नजर में वे भी हैं जो जीते-मरते, खटते-खपते, रोजी-रोटी की जुगाड़ में लगे रहते हैं। उनकी कोई हैसियत नहीं। वे दिल्ली के तो हैं, पर दिल्ली उनकी नहीं। गहरी ललक से कवि उस दिल्ली को याद करता है जिसमें कभी अमीर खुसरो रहते थे, ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया, मीर तकी मीर, मिर्जा गालिब और बहादुर शाह 'जफर' रहते थे। अब्दुर्रहीम खानखाना की दिल्ली क्या दिल्ली थी? इसमें यथार्थ की अनुभूति द्वन्द्वात्मक है। कवि सेकुलर है, सहृदय तो है ही।

भगवत के इस संग्रह में पहली कविता

'कृष्ण कथा' है। यह उनके पहले संग्रह 'समुद्र के बारे में' से ली गई है। यह 'राधा गुबिन्द सुमिरन का बहाना' नहीं है। इसमें कृष्ण संज्ञा से अधिक विशेषण है। जैसे काला अध्याय, काला रजिस्टर आदि। वैसे भी, पूर्णावतार की पुराण-कथा में भगवत की क्यों रुचि होगी? इसे पढ़ते हुए प्रेमचन्द की कहानी याद आती है—'यही मेरा देश है।' किंचित कनुप्रिया' का असर हो सकता है। लेकिन दृष्टि मुक्तिबोध वाली। 'नए कवि की जन्मकुंडली' का सार-संक्षेप। कृष्ण के वियोग में ब्रजमंडल बिसूरता रहता है। कालिन्दी सूख जाती है, कदम्ब का पता नहीं, गोपियाँ बूढ़ी हो चलीं। सूखे खेतों में दरारें हैं। हाल जानने उद्धव आते हैं—दूर से देखने पर श्याम सखा श्याम सरीखे लगते हैं। पर मान लो, कृष्ण स्वयं भी आते तो क्या आते? 'जो बीत गई सेा बात गई।' कुछ भी लौटाया नहीं जा सकता।

अपनी जड़ों से उखड़े हुए रचनाकार का आत्मपक्ष ऊपर से अस्तित्ववादी लग सकता है, लेकिन भगवत रावत की दृष्टि में वह समाज है जो उजड़ चुका है। 'कृष्ण कथा' की वेदना का मर्म-विस्तार उनकी 'बेतवा' कविता में मिलता है। लम्बे समय के बाद कवि अपने बचपन के शहर में लौटता है। वह उस मुहल्ले की हर गली छान मारता है जिसमें उसका बचपन दौड़ता-खेलता था। लेकिन वहाँ के लिए वृद्ध भगवत रावत अब केवल एक अजनबी है। उन्हें कुछ खोजता हुआ देख किसी ने पहचाना नहीं, टोका नहीं चालीस बरस पहले ऐसा नहीं था पहले वहाँ वह सबका था, सब उसके थे।

प्रबन्ध कविता में कवि-कौशल मार्मिक स्थलों की पहचान और प्रस्तुति में नवोन्मेष का कौशल होता है। 'बेतवा' में यह कौशल आत्मीयता और भावुकता से अनुप्राणित है। बेतवा कवि की अपनी नदी है, उसका अपना अंचल। ओरछा और बुन्देलखंड के इतिहास-भूगोल से परिचित कराना कवि का उद्देश्य नहीं है। वस्तुतः कवि वहाँ की दरिद्रता, अनपढ़ता और पिछड़ेपन की बिथा-कथा लिख रहा है।

भगवत रावत की मातृभाषा बुन्देली है। बुन्देलखंड के लोकप्रिय जनकवि ईसुरी के प्रेम गीतों का उन पर गहरा असर है। 'बालापन में हमने मुख से जिनके छन्द उचारे। उनई ईसुरी की हम परजा/उनई के बोल बिचारे।' अपनी बोली-बानी की निचाट-बेलौस आवाजें जेठ की दुपहरी में चलती लू की तरह कैसे बता देती हैं। अपने आप/हाड़-तोड़ माटी के जीवन की बिथा-कथा/बिना कुछ कहे। घर छूट गया, पर बुलाता रहा समय-समय पर। 'समय नहीं है'—यह उन सबकी पीड़ा है जो जीविकोपार्जन हेतु नगरों-महानगरों में जाते हैं और वहीं बस जाते हैं।

कवि के मन में आता है...एक बार जाकर देख आता गाँव, घर, लोग, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, जलवायु। जिनके बीच पैदा हुआ, पला-बढ़ा। तो पता चला जाता कि पैदाइश के गाँव से राजधानी तक की उसकी यात्रा का क्या हुआ? समय नहीं है...समय नहीं है/कहते-कहते एक दिन सच में समय नहीं रह जाएगा।

सीधी-सादी लगने वाली पंक्तियों, विवरणों में कविता-स्थिति गहराती जाती है। कवि का आत्मान्वेषण, आत्मालोचन अलंकृत हुए बिना सभ्यता-समीक्षा में कब परिणत हो गया, पता ही नहीं चलता। रेत के विस्तार में जलाशय की खोज जारी रहती है। भगवत रावत के जेहन में बेतवा का निर्मल जल है और है पुरखों के शरीर की पसीने की गंध।

माँ की याद मनुष्यता के बचपन की याद है। इसे अलग से काव्यात्मक बनाने की कोशिश गैर जरूरी है। बचपन को कोई आवरण क्यों चाहिए! भगवत रावत शब्दों के मेले से निकलकर व्यक्तियों और समाज के अन्तरंग से संवाद कर पाते हैं। 'अम्मा से बातें' इस दृष्टि से मार्मिक है कि कवि को जो सब कहना है वह केवल अम्मा ही सुन-समझ सकती है।

यह माँ ही है जो कवि की स्मृति में गाँव और शहर के दो कगारों पर प्रसन्न पुल का निर्माण करती है। दोनों तरफ दुःख-ही-दुःख है। पर दोनों दुःखों में फर्क है। 'वे लोहा पीट रहे हैं/तुम मन की पीट रहे हो'—नागार्जुन की विख्यात पंक्ति है। 'अम्मा से बातें' करते हुए भगवत रावत पुल के इस पार के दुःखों का हवाला देते हैं। इसमें ताँगेवाले मामा के घोड़ा मर जाने का दुःख है। कुजड़े दर्जी, नाई का दुःख है। बेवा हसन की माँ का दुःख। मिट्टी के बरतन वालों का दुःख/खपरैल की छतवालों का दुःख और गोबर लिए घरों का अपना दुःख सब एक तरफ। दूसरी तरफ बाजार में बिकने के लिए तैयार किया गया फैशनेबल दुःख है/दुःख का क्रय-विक्रय एक विलक्षण दृश्य है/थोड़ा काट-छाँटकर/रंग-रोगन से चुभती-सी आकृति को दुःख का व्यापार करने वाले दर्शनीय बना देते हैं। वे उसे सुरुचि-सम्पन्न बनाकर ड्राइंग रूम या कलादीर्घाओं में लटकाकर/अक्सर फुर्सत के क्षणों में/शामों को घंटों उस पर बहस करते हैं।'

भगवत रावत अत्यन्त शालीन और यथा

सम्भव इन्वॉल्व हुए बिना दुःख के व्यवसाय में लगे हमारे समय के कलावाद को आलोच्य बनाते हैं। संस्कृति की समृद्धि में लगे होने का दावा करने वाले नाक की सीध में भागे जा रहे हैं। उन्हें रचना-बसना तो दूर एक पल के लिए परिचित से हाथ मिलाने तक का समय नहीं है। कविता के अन्दर आकर वे ऐसे परेशान हो जाते हैं—जैसे अपने गाँव-मोहल्ले के अनपढ़ लोगों को देखकर भी न देखने का अभिनय कर रहे हों। उससे कटने की कोशिश में न जाने कितने चक्कर खाते।'

'जो भी पढ़ रहा है या सुन रहा है', 'लड़का अजूबा', और 'आयुधों के यान पर सवार आ रहा है दाता' भगवत रावत के पूर्व प्रकाशित संग्रह 'हुआ कुछ इस तरह' (1988) से संगृहीत कविताएँ हैं। इनमें आरम्भिक दो कविताएँ तीसरे से बिल्कुल अलग हैं। 'जो भी पढ़ रहा है' में कवि अपने पाठकों और श्रोताओं से सीधे संवाद कर रहा है और जोखिम उठाकर कह रहा है—'मैं बहुत अकेला हूँ और यह बात मैं तुम्हारे कान में कह रहा हूँ।' अकेले होने का जिक्र करना खतरे से खाली नहीं। 'इसके अनेक अर्थ निकाले जा सकते हैं और आसानी से खारिज किया जा सकता है।' यह भगवत रावत की एक बड़ी कविता है। इसमें उनकी मैत्री-निष्ठा, देश-राग, व्यवहार कुशलता और मध्यवर्गीय नैतिकता के आकर्षक दृश्यालेख हैं। कुछ आत्मव्यंग्य भी हैं। भगवत सबसे ज्यादा खुद को बेनकाब करते हैं, इससे उन्हें अन्य पर व्यंग्य करने का एक नैतिक अधिकार मिल जाता है। उन्होंने मध्यवर्गीय विडम्बना को आत्म-स्वीकृति के स्वर में उभारकर चित्रित किया है, लिखते हैं—

इस व्यवस्था की सीढ़ी के/तमाम पायदानों में से एक पर ऐसे घुसड़कर बैठा हूँ कि एक साथ सबसे ऊपर और सबसे नीचे होने का अपार भ्रम होता है।

'आयुधों के यान पर सवार...' में व्यंग्य राजनीतिक हो रहा है। लड़का अजूबा इस अर्थ में है कि अपनी सक्रियता से वह यथास्थिति भंग करता है। 'कचड़ा बीनने वाली लड़कियाँ' निराला की 'भिक्षुक' कविता का अगला चरण है। हाशिये पर पड़ी जिन्दगी को भाषा की संस्कृति में ले आने का प्रयास होने से यह हिन्दी की यथार्थवादी कविता की उपलब्धि है। ऐसी और भी कई कविताएँ भगवत के अन्य संग्रहों में मिलती हैं। कवि परदुःखकातर होता है तो इस धारणा को यह कवि नए सन्दर्भ में जीवंत बनाए रखता है।

'सुनो हिरामन' नाम से कवि की एक स्वतन्त्र कविता-पुस्तिका पूर्व प्रकाशित है। इस संग्रह में भी वह संकलित है। इससे कवि की प्रेम गीतात्मक रचना-प्रकृति का रहस्योद्घाटन होता है। 'रेणु' की विख्यात कहानी 'तीसरी कसम' का नायक हिरामन सबके लिए सुपरिचित है। उसमें कवि एक ऐसे व्यक्ति की तलाश करता है जिसके आगे मन की गाँठें खोली जा सकें। हिरामन हीरा मन रखता है। वह 'तीसरी कसम' से निकलकर आया है—यह कहना पर्याप्त नहीं। इसमें ईसुरी और रजऊ का प्रसंग भी आता है। महुआ घटवारिन भी कम योगदान नहीं करती। लगता है, कवि 'तीसरी कसम' का शेषांश रच रहा हो। तात्पर्य यह कि 'सुनो हिरामन' कवि-कथा भी है। यह कवि का आत्मप्रक्षेप भी है। सत्तर पार कर चुके कवि का अत्यन्त मानवीय विलाप भी है। इसमें हम सब शामिल हैं। एक आदमी को क्या चाहिए? धन-दौलत से ज्यादा प्यार और आत्मीय संसार चाहिए। हमें रैदास की कुटिया चाहिए। भगवत रावत दुःख को कविता का विषय बनाते हैं तो वह केवल भूख-दुःख ही नहीं होता। दुःख का दर्शन नहीं, वे दुःख की अनुभूति की कविता लिखते हैं। उनमें आख्यान की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उनकी लम्बी कविताएँ इसलिए भी लम्बी होती हैं कि उनमें आख्यान तत्त्व प्रचुर हैं। जिन्दगी के लिए जद्दोजहद में शामिल लोगों की प्रत्येक साँस का इतिहास वह लिखते हैं। इसमें प्रयत्न कुछ खास नहीं होता। बल्कि एक विश्वास काम करता है। आम आदमी जिस शब्दावली का इस्तेमाल करता है, उसी में कविता-स्थिति सृजित करने का प्रयास। इस वजह से बुन्देली के शब्द उनकी कविता में अक्सर आते हैं। यह कवि शास्त्र को तजकर लोक में रमा है। उसकी लोक चेतना सजग है। प्रगतिशील कविता-परम्परा की अन्तर्वस्तु को निजी कवि-व्यक्तित्व की सुस्पष्ट छाप के साथ भगवत रावत एक नई आभा, नई रंगत के साथ उजागर करते हैं। इसमें कुछ भी अतिरंजित नहीं, अतिरिक्त नहीं।

आलोच्य संग्रह की अन्तिम रचना थॉमस ग्रे की एक विख्यात एलेजी का भावानुवाद है—'गाँव के कब्रिस्तान में लिखा गया एक शोक गीत'। यह भी उनके पूर्व प्रकाशित 'बिथा-कथा' में संकलित है। इसमें छन्द के अनुरोध से अद्भुत प्रवाह है। रचना-संवेदना की स्वकीयता ने इसे आत्माभिव्यक्ति के समकक्ष कर दिया है। इसमें गाँव है, ऐसे लोग हैं जो कभी खबर नहीं बनते। खामोशी है और अनिवार्य अकेलापन भी। भगवत ने बड़े मनोयोग से इसे रचा है। मौलिक से कहीं अधिक यह शाश्वतिक है। आँखें खोल देने वाली एक महत् संरचना—

गिरजे का घंटा कह रहा कि साँझ हो रही
कहीं दूर की पगडंडी पर गाय रँभाई।
श्रम से भारी पैर कृषक घर लौट रहे हैं,
मुझे अकेले में निसि साँपिन डँसने आयी।
× × ×
अरी महत्वाकांक्षे! हँस मत उस जीवन पर,
जिसकी प्रतिभाओं को स्वर-संबल न मिल सका।
जिनकी राम कहानी याद न रही किसी को
जिनको सदा घृणा का ही, उपहार मिल सका।
अनुवाद भी सदैव परकाया प्रवेश का मामला नहीं रहता।

'भावानुप्रवेश' के पीछे से समतुल्य अनुभूति का द्वन्द्व और तनाव होता है। भगवत रावत बाह्य यथार्थ के समानान्तर अन्तर्वृत्ति का आन्दोलन आँकते हैं। वह हमारी भाषा के गौरव हैं। उनकी सादगी और सफाई को सही सन्दर्भ में देखने की जरूरत है। भाषा में अचूक सम्प्रेषण और निश्छल भावुकता इस कवि की सीमा नहीं, सामर्थ्य है। यदि अब तक हिन्दी के आलोचकों ने उनकी कविता पर गम्भीरता से विचार नहीं किया है तो यह दुखद स्थिति है।

अम्मा से बातें और कुछ लम्बी कविताएँ/ भगवत रावत/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : 195/-

---

22, रीडर्स क्वार्टर्स, यूनिवर्सिटी कैम्पस, मुजफ्फरपुर (बिहार) मो.09334730479

आलोचना

प्रतिबद्धता के और-छोर

हरिमोहन शर्मा

राजेन्द्र कुमार सुपरिचित कवि-समीक्षक हैं। इधर उनके आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह 'प्रतिबद्धता के बावजूद' प्रकाशित हुआ है। शीर्षक से स्पष्ट है कि उनकी आलोचना-दृष्टि में प्रतिबद्धता की महत्त्वपूर्ण भूमिका है परन्तु वह अपने को वहीं तक सीमित नहीं रखना चाहते। रचना में अनुभव और विचार की एकात्मकता की चर्चा करते हैं। वर्तमान समय की संश्लिष्टताओं को उद्‌घाटित करने, साहित्य-संस्कृति को जांचने-परखने के लिए वे अपनी किस या किन कसौटियों का निर्माण करते हैं—यह उनके निबंधों को पढ़कर ही जाना जा सकता है। समीक्ष्य पुस्तक के मुख्य शीर्षक के साथ उन्होंने तीन उपशीर्षक भी दिए हैं : साहित्य, इतिहास-दृष्टि और समकालीनता। यानी राजेन्द्र कुमार के ये निबंध साहित्य-संस्कृति, इतिहास-दृष्टि तथा समकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक समस्याओं के संदर्भ में उनके विचारों को निबद्ध करते हैं।

समीक्ष्य पुस्तक के लेखों-निबन्धों को दो खंडों में बाँटकर रखा गया है। खंड-एक के निबंध प्रायः छोटे हैं। ऐसा नहीं कि इनमें लेखक की कोई विकसित तर्क-सरणि नहीं है या इनके विचारों का विश्लेषण यहाँ नहीं मिलता। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि लेखक इन निबंधों में वाक-स्फीति से बचा है। वह किसी भी प्रकार के फतवे न देता हुआ अपने विचार समास शैली में प्रस्तुत करता है। आप उनसे सहमत-असहमत हो सकते हैं—पर ये निबंध पाठक को सोचने के लिए न केवल सामग्री देते हैं बल्कि प्रेरित करते हैं कि वह भी उस दिशा में सोचें। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि उनके ये लेख अथवा निबंध उनकी पत्रिका—'अभिप्राय' के संपादकीय के रूप में लिखे गए थे। समीक्ष्य-पुस्तक में लिखा भी गया है : 'इस पुस्तक के खंड-एक में संकलित निबंध— 'अभिप्राय' के संपादकीय के रूप में लिखे गए थे। इनका अनुक्रम भी यहाँ वही है जो 'अभिप्राय' के अंकों का था।' (पूर्वकथन पृ. 8) उल्लेखनीय है कि संपादकीय प्रायः अपने समय की किसी विशेष प्रश्नाकुलता से जुड़े होते हैं जो उस समय की रचनाशीलता को आलोड़ित-विलोड़ित कर रही होती है। उन्होंने अपनी पत्रिका के प्रत्येक अंक में 'कोई न कोई ऐसा प्रश्न जरूर रखा जो लेखक के रूप में हमारी जिज्ञासा और संवेदना को मथने वाला रहा; और जिसकी गंभीरता का आकलन करके ही हम अपनी इतिहास-दृष्टि को अपनी रचनाशीलता के संगत परिप्रेक्ष्य के रूप में समंजित करने की कोशिश कर सकते थे।' (पूर्वकथन, पृ. 8) स्पष्ट है कि राजेन्द्र कुमार शुरू से अपने इन निबंधों में एक ढीली-ढाली प्रतिश्रुति लेकर चले हैं, वह है उनकी इतिहास-दृष्टि। जो समय के लम्बे अंतराल में विकसित होती चली गई है। यह इतिहास-दृष्टि और कुछ नहीं समीक्षक की अपनी अतीत, वर्तमान और भविष्य की अविभाज्य चेतना है जिसके माध्यम से आलोचक ही नहीं, रचनाकार भी अपने समय की जटिलताओं से जूझता है।

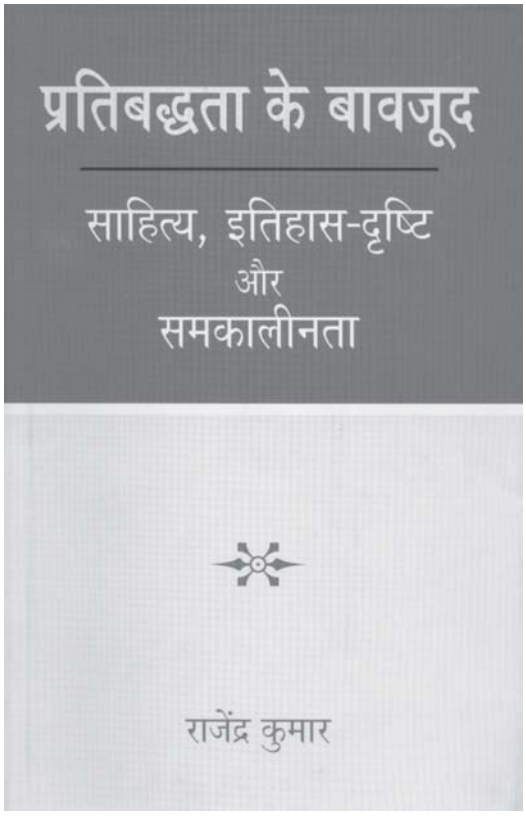

कथनीय है कि हमारे जीवन में सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक संबंध महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जीवन में बदलाव लाते हैं। समीक्षक वर्तमान समाज की गतिशीलता से परिचित है और जानता है कि वर्तमान परिदृश्य तेजी से बदल रहा है। उसकी चुनौतियाँ और स्वप्न बदल रहे हैं। इन सबका विवेचन उनके इन निबंधों में मिलता है।

उक्त पुस्तक के खंड-दो के निबंध (जो 1981 से 2004 के बीच लिखे गए हैं) दर्शाते हैं कि समीक्षक उत्तर सोवियत समाज के यथार्थ और भूमंडलीकरण की स्थिति से पैदा हुई चुनौतियों को भलीभांति समझकर अपनी विवेकपूर्ण आलोचना-दृष्टि का निर्माण करता है। वह नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के प्रभाव से आज के मध्यवर्ग के बदलते स्वरूप के संबंध में लिखता है : 'साहित्य और समाज के अन्तः संबंध की बात कोई नई नहीं है। नया है तो यह प्रश्न कि साहित्य और समाज, दोनों अपनी अन्तःसंबंधता के बावजूद आज एक-दूसरे

से विमुख होते जाने के जिस अनुभव से गुजर रहे हैं, उनका निदान कैसे हो! साथ ही यह भी कि रचना में जिसे हम समकालीन होना कहते हैं, क्या वह सिर्फ अपने समय में हमारी वर्तमानता की स्थिति का एक बोधमात्र है या उसकी वास्तविक चेतना के लिए एक सम्यक् इतिहास-दृष्टि की भी आवश्यकता होती है।' (पूर्वकथन, पृ. 8) आज की स्थिति-परिस्थितियों के दबाव तथा उनके कारण उपस्थित होती चुनौतियों से पैदा होता असमंजस तो यहाँ दिखाई देता है पर समीक्षक को अपने आलोचनात्मक-विवेक यानी-अपनी इतिहास-दृष्टि पर भरोसा कम होता दिखाई नहीं देता।

खंड-दो के निबंधों में पहला निबंध है : 'नवफासीवाद की चुनौतियाँ और उपभोक्तावाद', जो 'आलोचना' त्रैमासिक के पुनर्नवा अंक-अप्रैल-जून 2000 में छपा था। अपने इस निबंध में वे भूमंडलीकृत हो रहे समाज और उसकी चुनौतियों की चर्चा करते हैं और बताते हैं कि आज का यह बाजार हमारा पुराना बाजार नहीं है जहाँ हम अपनी बुनियादी चीजों को खरीदने के लिए इकट्ठा होते थे। यह नया बाजार है जो हमारी आवश्यकताओं को गढ़ रहा है। यह नई मानसिकता और नई संस्कृति को जन्म दे रहा है। हम भी जाने-अनजाने में इसकी चपेट में आते चले जा रहे हैं। इस नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के पैरोकार मानते हैं कि इसी क्रम में 'विकास' होता है और बाजार का बढ़ते जाना समाज के जीवन स्तर के उन्नत होते जाने का प्रमाण होता है। पर समीक्षक वर्तमान 'विकास' के इन तर्कों से सहमत नहीं। उसकी यह धारणा उचित ही है कि 'जो वर्ग सत्ता में शीर्ष पर होता है और भौतिक संसाधनों पर काबिज होता है, वह वही-वही संस्कार पूरे समाज में, ऊपर से नीचे तक बद्धमूल करता जाता है, जो उसके स्वयं के हित में होते हैं।' (पृ. 81) कहना न होगा कि मध्यवर्गीय समाज से जुड़े हम सब लोग उसका प्रतिरोध नहीं करते या उसके विकल्प की चर्चा नहीं करते। समीक्षक इस विषय पर सजग-सचेत है और वह पाठक को इस विषय में सावधान करते हुए लिखता है : 'अंग्रेजी शासन के दौर का हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास बताता है कि हमारा सांस्कृतिक जागरण उपनिवेश-विरोधी चेतना का ही अभिन्न अंग था। लेकिन बदली हुई स्थितियों में हमारी उस चेतना पर ऐसी धुंध छा रही है कि हम आर्थिक रूप वाले नवउपनिवेशवाद की शरण में खुशी-खुशी जाने को तैयार हो चुके हैं।' (पृ. 85) इसी से जो सौंदर्य पहले 'उज्ज्वल वरदान चेतना का' कहा जाता था, वर्तमान संदर्भों में वह संवेदनात्मक नहीं रह गया है, वह उत्तेजनात्मकता में बदल गया है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने सौन्दर्य को संवेदनात्मक मूल्यों से विच्छिन्न कर उत्तेजनात्मक मूल्यों से जोड़ दिया है। आज के समाज-संस्कृति की विवचेना करते हुए वह लिखता है कि आजादी के बाद एक नई सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था लागू करने की आवश्यकता थी जो भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना के अनुकूल होती। जहाँ स्वतंत्रता का अर्थ होता 'सर्वतोमुखी स्वतंत्रता; व्यक्ति और समाज, अमीर और गरीब, नर और नारी, सभी के लिए स्वतंत्रता। इस स्वतंत्रता का तात्पर्य मात्र राजनैतिक बंधनों से मुक्ति नहीं है, वरन् इसका तात्पर्य है–धन का समान बंटवारा। जातिगत अवरोधों और सामाजिक असमानताओं की समाप्ति, सांप्रदायिक और धार्मिक असहिष्णुता का विनाश।' (सदी के स्वप्न और यथार्थ, पृ. 89) सुभाषचंद्र बोस के इस उद्धरण द्वारा समीक्षक यही बताना चाहता है कि समाज के तत्कालीन कर्णधारों के द्वारा इस रूप पर ध्यान नहीं दिया गया और हम व्यापक समाज को भूलकर व्यक्ति-केन्द्रित, स्वार्थ-प्रेरित समाज में बदलते चले गए। यही कारण है कि आजादी के बाद न वह राजनीति रही और न समाज के प्रति वह चेतना। आजादी के बाद से आदमी की नीयत में बदलाव आता चला गया। वह लिखता है–'राजनीति आज वह नहीं है जो देश पर मर-मिटने से प्रमाणित होती थी। राजनीति आज वह है जो देश-भक्ति के नाटक से प्रमाणित होती है।' (पृ. 90) ऐसे में आज समाज के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। वैसे भी साहित्य समाज से प्रभावित होता है तो 'सामाजिक परिवर्त्तनों को प्रभावित भी करता है क्योंकि साहित्य में मानवीय प्रयास का मौलिक स्वभाव सर्जनात्मक आत्माभिव्यक्ति का होता है।' (इतिहास और साहित्य का इतिहास, पृ. 104) कहना होगा कि साहित्य ने आज फिर भी अपनी भूमिका बनाए रखने का प्रयास किया है। हालांकि मूल्यों में विघटन और व्यक्ति-स्वातंत्र्य के चलते चालू किस्म के लेखन को भी साहित्य का दर्जा दिया जाने लगा है।

एक अन्य निबंध में राजेन्द्र कुमार प्रश्न उठाते हैं कि साहित्य सोद्देश्य होना चाहिए–या नहीं। वे ऐलन स्विंगवुड की इस मान्यता से सहमत हैं : 'साहित्य और मानव-उद्देश्य परस्पर अविभाज्य रूप में जुड़े हुए हैं। जिन जीवन-मूल्यों को लेकर मनुष्य समाज में जीता है, वे साहित्यिक रचनाओं और कलाकृतियों द्वारा संप्रेषित किये जाते हैं और इस अर्थ में समाज का पुनर्निर्माण करने की उसकी इच्छा को व्यक्त करते हैं।' (पृ. 102) और यह तभी हो सकता है जब साहित्य सोद्देश्य हो। हालांकि साहित्य और समाज के संबंध यांत्रिक नहीं होते। रचनाकार समाज में विद्यमान अनेकानेक समस्याओं, अन्तर्विरोधों, विरोधाभासों से निरंतर जूझता है तथा उनसे पैदा हुए अनुभवों-विचारों को अपनी रचना में संप्रेषित करता है। वे सिर्फ उसी के अनुभव नहीं होते वरन् समाज के विविध संस्तरों-वर्गों से ग्रहण किये गए सामान्यीकृत अनुभव होते हैं। कहना होगा कि आज के विमर्शवादी युग में पिछड़ेपन का खतरा उठाकर भी समीक्षक अपने इन निबंधों में समाज, सामाजिक-निर्माण, मूल्यों आदि की चर्चा करता है।

समीक्ष्य पुस्तक के इन निबंधों में धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था, परम्परा-वर्तमानता, कला-साहित्य-संस्कृति के प्रश्नों पर गहराई से विचार किया गया है। वर्तमान संदर्भों में उन्हें समझने-समझाने का प्रयास किया गया है। वे जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल आदि की मान्यताओं को ज्यों का त्यों स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। वे मानते हैं कि परंपरा के जीवित अंशों को अपने समय-संदर्भ में आविष्कृत करना एक बात है तो किसी विषय या विचार-सरणि का अनुकरण करना दूसरी। किसी विषय या विचार-सरणि का परंपरा में होना एक बात है तो उसका पारंपरिक होना बिल्कुल दूसरी। 'दलित चेतना : हिन्दी साहित्य में उसके कुछ अक्स, कुछ अंदेशे' निबंध में वे पारंपरिक संस्कारों की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि क्रांतिकारी कवि निराला

भी स्वयं को 'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत' मानते हुए—एक स्थान पर यह लिखते हैं कि 'दासत्व की स्थिति में सब शुद्र ही होते हैं।' राष्ट्रीय आन्दोलन के संदर्भ में उनकी यह उक्ति तेजस्वी प्रतीत होती है तथा साम्राज्यवादी दासता की निकृष्टता का बोध कराती है पर 'निराला जान भी नहीं पाते कि उनका वर्णवादी संस्कार किस तरह उनसे नज़र चुराकर यहाँ आ छिपता है। वर्णवादी संस्कार यह कि शुद्र होना निकृष्ट होना ही है।' (पृ. 98) जयशंकर प्रसाद भी लगभग इसी तरह की उक्ति कहकर अपने संस्कारों की अभिव्यक्ति करते हैं : 'ब्राह्मणत्व शाश्वत बुद्धि-वैभव है।' समीक्षक इन दोनों उक्तियों को प्रश्नवाची बनाता हुआ लिखता है : 'इन दोनों व्याख्याओं में शूद्र होने और ब्राह्मण होने के विभाजनवादी दृष्टिकोण का कोई खंडन नहीं किया गया है। बल्कि अधिक बौद्धिक रूप में मंडन ही किया गया है—शूद्र होने को निकृष्ट होने का पर्याय बताकर और ब्राह्मण होने को उत्कृष्ट होने का पर्याय बताकर।' (पृ. 98) स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित रचनाकार समाज बदलने की आकांक्षा रखते हुए भी स्वयं अपने संस्कारों को नहीं बदल पाए हैं।

निराला राजेन्द्र कुमार के प्रिय कवि हैं। निराला पर उन्होंने स्वतंत्र निबंध लिखा है : 'निराला को पढ़ना'। इसमें वे निराला के विषय में लिखते हैं कि निराला साहित्य में मुक्ति की आकांक्षा का ऐसा साझा संसार रचना चाहते हैं जो मुक्ति के लिए किए जा रहे अपने रचयिता के खुद के संघर्षों का भी पता दे और अपने पाठकों के संघर्षों का भी। परन्तु निराला को पढ़ने का आशय यह नहीं कि उनकी रचना-दृष्टि के अवरोधों पर ध्यान ही न दिया जाए। उनके निबंधों में अन्तर्विरोध मिलते हैं। वर्णाश्रम धर्म और अन्य हिंदू आस्थाओं के पक्ष में जो दलीलें उभरती हैं, वे उनकी विचारशीलता पर प्रश्नचिन्ह लगाती हैं। वे लिखते हैं : 'महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले जैसा समाज-सुधारक मनुवादी सिद्धांतों पर गहरी चोट करते हुए सामाजिक-क्रांति की जो लहर पैदा कर चुके थे, हिंदी-प्रदेश में निराला को वह छू नहीं पाती। निराला सन् 1930 में भी यही लिखे जा रहे थे कि ''निवसेत शूद्र राज्ये-मनु का यह कहना बड़ा अर्थ-गौरव रखता है।'' ('सुधा' जनवरी, 30, संपादकीय) भारत की प्राचीन संस्कृति के गौरव की झोंक में वे पराजित जैसे शब्द में भी शर्म की जगह गर्व का भाव ठूँस देने की उतावली दिखाते हैं—''भारत सदा पराजित-परा या श्रेष्ठ विद्या को जीतने वाला है, क्योंकि वह भारत है।' (पृ. 123) दरअसल ये रचनाकार के अपने वर्ग के बद्धमूल संस्कारों और सचेत सरोकारों के बीच के अन्तर्विरोध हैं जिनके बीच में लेखक झूलता है। परन्तु इन लेखकों की तेजस्विता इसमें है कि वे जब-तब अपने समय के यथार्थ से सीधे टकराते हैं। निराला 'सुधा' अगस्त, 1933 की एक टिप्पणी में लिखते हैं : 'तोड़कर फेंक दीजिए जनेऊ, जिसकी आज कोई उपयोगिता नहीं, जो बड़प्पन का भ्रम पैदा करता है।' या 'किसान और उनका साहित्य' शीर्षक से 'सुधा' जुलाई, 1934 के संपादकीय में वे लिखते हैं : 'जब तक किसानों और मजदूरों का उत्थान न होगा, तब तक सुख और शांति का केवल स्वप्न देखना है।' (पृ. 124) यह निश्चय ही निराला जैसे लेखकों को उनकी समग्रता में पढ़ना और पहचानना है जिससे निराला की रचनात्मक ईमानदारी उभरती दिखाई देती है।

राजेन्द्र कुमार ने एक निबंध अज्ञेय पर भी लिखा है : 'अज्ञेय : निष्ठाहीन मुखरता बनाम बुना हुआ सन्नाटा'। इसमें उन्होंने उन्हें स्वाधीनचेता कवि की छवि गढ़ने वाले रचनाकार के रूप में स्मरण किया है तथा उनके अभिव्यक्तिगत-संयम को उनके भाषिक-आभिजात्य से जोड़कर देखते हुए पूछा है कि उन पर अक्सर की जाने वाली 'अभिजात-कवि' वाली टिप्पणी कहीं उन्हें अवमूल्यित करने का प्रयास तो नहीं। किंतु विश्लेषण के क्रम ने समीक्षक ने पाया कि अज्ञेय अभिव्यक्ति पर इतना बल देते हैं कि कहीं-कहीं वे उसे ही अपनी निष्ठा का पर्याय बना लेते हैं। अन्यत्र वे अपने निबंधों में यह भी लिखते हैं : 'कविता शब्द में होती है, विचार भाषा में।' समीक्षक को आंशका होती है कि कहीं यह कवि की रणनीति तो नहीं। वह लिखता है : ''भाषा' से 'शब्द' में जाने का उनका आग्रह जिस उत्साह में फलीभूत होता है, वह उन्हें फिर 'शब्द' से भी आगे ले जाने लगता है—महामौन की स्थिति में, जो अन्ततः उन जैसे 'द्रष्टा' के लिए भले ही स्पृहणीय हो लेकिन आज के कवि के लिए तो वह जिन्दगी से ही उदासीन हो जाने की परिचायक होगी।' (पृ. 117) समीक्षक की दृष्टि में यदि कविता जीवन से ही उदासीन हो जाएगी तो वह आध्यात्मिक या अमूर्त्तन के संसार में विचरण करने लगेगी। सच्चा साहित्य या सच्ची कला जीवन से उदासीन या तटस्थ नहीं हो सकती। इसलिए 'प्रतिबद्धता के बावजूद' निबंध में उसकी दो टूक मान्यता है : 'तटस्थता जैसी कोई स्थिति सार्थक लेखन के किसी क्षेत्र में हो सकती है, हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।' (पृ. 14)

समीक्षक का स्पष्ट मत है कि प्रतिबद्धता का अर्थ संकीर्ण मताग्रह या राजनीतिक विचारधारा नहीं है। किसी भी रचनाकार या आलोचक को साँचे में ढला समाज या साहित्य स्वीकार्य नहीं हो सकता। मताग्रह से तो जड़ीभूत स्थितियाँ पैदा होंगी जो जीवन्तता या गतिशीलता को समाप्त करेंगी। इसलिए विचारधारा जब अनुभव से एकात्म होकर उभरेगी तभी वह एक जीवन्त समाज की प्रेरणा बनेगी।

कहना होगा कि समीक्ष्य पुस्तक के सभी निबंधों में सामाजिक उत्तरदायित्वपूर्ण आलोचना-विवेक को अपनी कसौटी बनाया गया है तथा 'लोकतांत्रिक प्रलोभन' देने वाले 'तटस्थता' जैसे शब्द से स्वयं को तथा पाठक को सचेत भी किया गया है। इसके बावजूद समीक्ष्य पुस्तक के निबंधों को पढ़कर कोई उन्हें प्रतिबद्ध आलोचक कहे तो कह सकता है क्योंकि उन्होंने अपने निबंधों में यह पाया है कि 'प्रतिबद्धता का संकल्प, आज रचना को एक ईमानदार मनोभूमि प्रदान करने वाली ठोस सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में, असंदिग्ध महत्व का है।' (पृ. 15) कहना होगा कि साहित्य की समझदारी पैदा करने के क्रम में राजेन्द्र कुमार के ये आलोचनात्मक निबंध साहित्य के पाठक के लिए महत्त्वपूर्ण और पठनीय हैं।

प्रतिबद्धता के बावजूद/ राजेन्द्रकुमार/ स्वराज प्रकाशन 7/14, गुप्ता लेन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : 275.00

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय (दक्षिण परिसर) दिल्ली/मो. 9818443264

संस्कृति-समाज

सर्वहारा रातों के सपने

सुभाष शर्मा

जॉक रॉसिएर की पुस्तक 'सर्वहारा रातें' का अंग्रेजी अनुवाद (मूल फ्रांसीसी भाषा में) से हिन्दी 'तर्जुमा' (अनुवाद की जगह अनुवादक द्वारा तर्जुमा शब्द का उपयोग खटकता है) अभय कुमार दुबे ने किया है जो काफी श्रमसाध्य कार्य था। वास्तव में, इसमें सर्वहारा कारीगरों और दस्तकारों के बयान दर्ज हैं जो कविताएँ रचते हैं या नाटक करते हैं या कहानियाँ लिखते हैं या संगीत कार्यक्रम करते हैं या दार्शनिक चिन्तन-मनन करते हैं। आमतौर पर यह माना जाता है कि मजदूर वर्ग शारीरिक मेहनत तक ही सीमित रहता है, वह साहित्य-कला- संगीत से दूर रहता है क्योंकि ऐसा मानसिक श्रम उसकी क्षमता के दायरे से परे होता है, उसके दैनिक कार्यकलापों के दूषित और गन्दे माहौल से हटकर एक भद्र, संयत एवं शालीन वातावरण की माँग करता है जो मध्यवर्ग के लिए ही सम्भव होता है। इस भ्रान्ति को जॉक रॉसिएर ने तोड़ा है क्योंकि उन्होंने पाया कि उन्नीसवीं सदी के फ्रांस में विभिन्न कस्बों-गाँवों के मजदूर, कारीगर, शिल्पक आदि लम्बी-लम्बी रातों की कामना करते थे जिससे वे जिन्दगी को अपनी तरह से जी सकें। वे साहित्यिक लघु पत्रिकाएँ निकालने की योजनाएँ बनाते, कवि-गोष्ठियाँ करते और दार्शनिक सवालों से भी दो-चार होते। मगर उनमें भी विरोधाभास होते : यद्यपि उनकी चर्चाओं में समाजवाद और साम्यवाद के सपनों को प्रमुखता मिलती मगर उन सपनों को सच करने के लिए वे अनुकूल एवं ठोस कार्रवाइयों से बचते रहते। सोवियत रूस के पतन के बाद सर्वहारा की कहानियों, जिंदगियों पर चर्चा करना आज के अधिकतर बुद्धिजीवियों (जिनमें उत्तर आधुनिक प्रमुख हैं) को अप्रासंगिक लग सकता है मगर मार्क्सवादी सिद्धान्त को यथार्थ के धरातल पर समझने, आम मजदूरों और बुद्धिजीवियों के बीच फर्क न होने (जैसा कि ग्राम्शी ने कहा था कि हर व्यक्ति बौद्धिक होता है, मगर वह बौद्धिक कार्य सामान्यतः नहीं करता) और उन्नींसवी सदी के फ्रांसीसी समाज की तस्वीर जानने के लिए यह किताब प्रासंगिक लगती है। स्वयं जॉक रॉसिएर ने ठीक ही लिखा है भूमिका में : ''यह किताब उन्हीं कारणों से उत्तर-आधुनिक नजरिए के लिए बेतुकी है जिन कारणों से यह क्लासिकल आधुनिकतावादी नजरिए के लिए बेतुकी थी। दरअसल, यह किताब आधुनिकतावाद और उत्तर- आधुनिकतावाद की इस साझी आस्था के खिलाफ खड़ी है कि इतिहास एक सीधी रेखा में चलता है और वक्त की डगर में पड़ी दरारें खुद वक्त की कारस्तानी हैं।'' (पृ. 10) इस कथन से यह तथ्य बिल्कुल साफ होता है कि इतिहास एक रैखिक नहीं होता और हर चीज का परिस्थिति से सरल सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। लेखक ठीक ही वाल्टर बेंजामिन के इस मत से सहमत है कि ऐतिहासिक क्रम-विकास में आस्था रखने का मतलब है विजेताओं को वैधता प्रदान करना। जॉक रॉंसिएर का मानना है कि एक रैखिक इतिहास को मानने का यह भी मतलब है—उस ज्ञान को वैधता देना जो तय करता है कि क्या महत्त्वपूर्ण है, क्या नहीं; और कौन इतिहास बनाता है, कौन नहीं। समाज वैज्ञानिकों के इसी अधकचरे विश्वास और ज्ञान की वैधता ने मजदूरों की कहानियों और पहलों को मुख्यधारा में शामिल नहीं होने दिया। वास्तव में, विज्ञानवाद, तर्कवाद और विवेकवाद देशज ज्ञान पद्धतियों तथा दैनिक जीवन की छोटी-छोटी गतिविधियों को दरकिनार कर देता है जिससे उनका वर्चस्व कायम रहे।

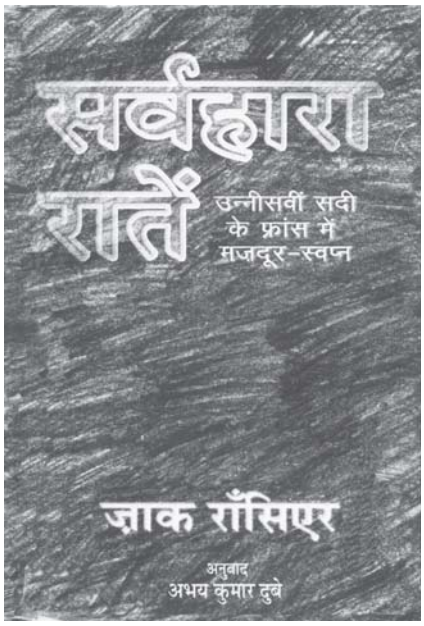

जॉक रॉंसिएर ने तीन खण्डों में फैले बारह बयानों में बढ़ई, लुहार, कुम्हार, बुनकर, कारखाना मजदूर आदि के बयान दर्ज किए हैं। उदाहरणार्थ, मई 1968 के विद्यार्थी आन्दोलन के दिन के बारे में एक बढ़ई कहता है कि वह अपने दो दोस्तों के साथ देहात के सूर्योदय की खूबसूरती देखने गया था, एक सराय में वह दार्शनिक चर्चाएँ करता रहा और रात में खाने के वक्त बगल की मेज पर बैठे लोगों को अपनी मानववादी सामाजिक दृष्टि में दीक्षित करने की कोशिश की। अन्यत्र वही मजदूर प्रति-आर्थिकी की चर्चा करता है जिसमें दैनिक उपभोग पर मजदूर की निर्भरता कम करने के तरीकों की खोज होती है जिससे वह

बाजार अर्थव्यवस्था के मुकाबले अधिक स्वाधीन हो सकें।

सवाल उठता है कि परिवर्तन और नए समाज के स्वप्न का वाहक कौन है : जो लोकप्रिय जन-संस्कृति की शुद्धता बरकरार रखते हुए क्रान्तिकारी गीत गा रहा है या जो बुर्जुआ की भाषा में कविताएँ रच रहा है? इस किताब के ब्योरे बताते हैं कि मजदूरों की बगावत की वजहें मार्क्स द्वारा वर्णित 'वैज्ञानिक चेतना' की बजाय कुछ और होती हैं। अभय कुमार दुबे ने 'परिचय' में कहा है कि यह किताब विषम समाज में उदीयमान सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ की आँखों में आँखें डालकर देखने का आख्यान लग सकती है या कोई 'थॉट नॉवेल' जिसमें विचारों के जरिए घटनाओं की और घटनाओं के जरिए विचारों की कहानी कही गई है या महाकाव्यात्मक प्रवृत्तियों की झलक (जैसे रामायण)। मुझे ये तीनों चीजें विभिन्न बयानों में एक साथ या अलग-अलग दिखाई देती हैं जो इस पुस्तक की शक्ति और सीमा दोनों हैं। ये रातें 'काम और आराम के बीच से चुराई' गई अध्ययनशीलता और शराब नोशी की रातें हैं, जो 'कड़ी मेहनत से भरे हुए दिनों का विस्तार हैं, ताकि मजदूर भाईचारे पर आधारित जनता के धर्म का प्रचार करने वालों का संदेश सुन सकें, सपने देख सकें, बहस कर सकें या लिख सकें' (जॉक रॉंसिएर, पृ. 34)।

आम आदमी (मोची) के चित्रकार बनने के सपने कितने सुहाने हैं, यह इस कथन से स्पष्ट है : ''मैं तुम्हारे लिए नामौजूद जंगल बनाऊँगा, ऐसे अक्षर लिखूँगा जिन्हें पढ़ना तुम्हें नहीं आता होगा, ऐसी तस्वीरें बनाऊँगा जिसकी मॉडलिंग करने वालों का कभी कोई वजूद नहीं रहा होगा। मैं रहूँगा पक्षियों की तरह हमेशा हवा में, सूरज की शराब में सराबोर, चटर-पटर बातें करते हुए, कमरों में गूँजते खालीपन के साथ गीतों का संवाद करते हुए, आरामदेह भवनों से गुजरकर अटारी के कमरे तक और देहात से शहर तक बिना यह जाने कि कल कहाँ काम करना होगा। हमेशा नए साथियों और नई आकृतियों के साथ, सड़क के हर कोने में मेरा स्वागत होगा, हर शहर के दरवाजे पर मेरे लिए मेजें लगी होंगी। हर कदम और हर स्तर पर परिचित होंगे और होगा करने के लिए दिनभर का काम।'' (पृ. 44-45) यह सपनों की ऊँची उड़ान भले हो, मगर एक मोची की ऐसी कल्पनाशीलता शारीरिक एवं मानसिक श्रम-विभाजन को पूर्णतः झुठलाती है। इसीलिए मजदूरों के लिए रातों के महत्त्वपूर्ण मायने हैं, दूसरों की सम्पत्ति की बजाय अपनी बेचैनी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। उसे शोषण का नहीं, बल्कि इयत्ता का ज्ञान चाहिए जिसके जरिए उसके भीतर शोषण के अलावा दूसरी चीजों में दिलचस्पी रखने वाला इन्सान जाग सकें। वे यह भी चर्चा करते हैं कि ईश्वर मर्द है या स्त्री? अथवा दुनिया कैसे अस्तित्व में आई? ऐसी बहसों के जरिए मजदूरों के विशाल समुदाय एकदम नया रूप ले लेते हैं। इन्हें लम्पट सर्वहारा या छद्म चेतना आदि कहकर खारिज नहीं किया जा सकता।

तत्कालीन फ्रांसीसी समाज में स्तरण पोशाकों से भी स्पष्ट होता था—दर्जी और संगतराश की पोशाकें अलग-अलग होती थीं। सो जब एक बार गेती रंगमंच पर संगतराशों ने कलाकारों द्वारा संगतराशों का अभिनय करते हुए ऐसी पोशाक पहने देखा जो निम्न स्तर की थी, तो उन्होंने ऐतराज किया : ''उनसे कहिए कि अब भी सुधर जाएँ, पोशाक बदलें वरना हम वहाँ जाकर उन्हें हूट कर देंगे। मैनेजर साहब, आपको जानना चाहिए कि हम न तो राज मिस्त्री हैं और न ही छप्परसाज। तुम्हारे एक्टरों ने जो कपड़े पहन रखे हैं, वे इन लोगों को ही शोभा देते हैं।'' (पृ. 75)

ये मजदूर मेहनत के साथ-साथ रचनात्मकता से मिलने वाला सन्तोष भी चाहते हैं—'जिसमें सेवा हो, पर दासता न हो।' (पृ. 84) मजदूरों ने अपना संघ बनाकर समय-समय पर मिलना-जुलना तय किया जो काफी कारगर हुआ : ''तरह-तरह के इतने सारे व्यक्तियों के एक जगह जमा होने से जमीनी स्तर पर हमदर्दी की एक धारा पनपने लगती है।'' (पृ. 443) वहाँ उत्साह, भावनाओं एवं सकारात्मकता का उदय होता है क्योंकि तभी सिद्धान्त को व्यहवार में अपनाया जा सकता है। ऐसे लोगों की जरूरत महसूस की गई जो प्रतिभा और धन दोनों के साथ जुड़े। दैनिक चर्चा में मजदूर निष्कर्ष निकालते थे कि तम्बाकू का इस्तेमाल खर्चीला, नुकसानदेह, खतरनाक और मूर्खतापूर्ण है। मजदूरों ने दूसरा निष्कर्ष यह निकाला कि पूँजीवाद और उपभोक्तावाद के कारण लोग भ्रम के शिकार होते हैं जैसे कुत्ता छाया को पकड़ने के लिए अपना शिकार टपका देता है और सच्चाई का अहसास होने तक हालात और खराब हो जाते हैं।

इस पुस्तक की कई खामियों का उल्लेख करना प्रासंगिक प्रतीत होता है। पहली, इसमें उर्दू ही नहीं, फारसी-अरबी शब्दों की भरमार है जो दैनिक जीवन में प्रचलित नहीं है। जैसे लकब (पृ. 51), सिपहपेशे (पृ. 42), मुब्तिला (पृ. 37)। दूसरी प्रूफ की गलतियों से यह किताब भरी पड़ी है; प्रति पृष्ठ एक शब्द की दर से।

पाँचवीं, प्रचलित और सरल हिन्दी शब्दों की जगह कठिन एवं असहज शब्दों का उपयोग है। ऊब की जगह 'बोरियत' (पृ. 54), उबाऊ की जगह 'बोरिंग' (पृ. 53) आदि। इस प्रकार प्रूफ की अशुद्धियाँ, व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ, मानक अनुवाद का अभाव, संपादन में कमी और कठिन शब्दों का प्रयोग पुस्तक की पठनीयता में बाधक है। बड़े प्रकाशक (वाणी प्रकाशन) प्रूफ की अशुद्धियाँ छापने में स्पर्धा करते प्रतीत होते हैं। मूल लेखक जॉक रॉंसिएर ने इतने ज्यादा विवरण दिए हैं कि उन सबको पढ़ना सबके लिए सहज नहीं लगता (शोधार्थियों को छोड़कर)। फिर 455 पृष्ठों की पुस्तक की कीमत 795/- रु. निश्चित रुपये से थोक सरकारी खरीद को ध्यान में रखकर तय की गई है जो आम पाठकों की जेब के अनुकूल कदापि नहीं है। यूँ आवरण एवं कागज की गुणवत्ता अच्छी है। फिर भी लेखक की मूल स्थापनाएँ एक नई दृष्टि ही नहीं देतीं, नए तथ्य भी प्रस्तुत करती हैं जो निःसन्देह सराहनीय हैं। जब छोटा काम करने वाले बड़ा सपना देखते हैं, तो परिवर्तन की बयार बहना स्वाभाविक है।

सर्वहारा रातें/ जॉक रॉंसिएर/ अनु. अभय कुमार दुबे/ वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली-10002/ मूल्य : 795.00

डी-71, निवेदिता कुंज, आर.के. पुरम्, सेक्टर-10, नई दिल्ली-110022/फोन-011-26162591

संस्कृति-समाज

आईना : मुस्लिम मन का या हिन्दी मन का?

प्रियम अंकित

राजमोहन गांधी की किताब 'भारतीय मुस्लिम मन का आईना' हिन्दुओं और मुसलमानों के लगातार तल्ख़ होते रिश्तों की सच्चाई को समझने का उदारवादी प्रस्ताव है। यह पुस्तक काफ़ी हद तक इन रिश्तों की समस्याओं को सुलझाने की दिशा सुझाने का साहस रखती है। लेखक की यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है कि ''1947 को हम ब्रिटिश शासन से अपनी आजादी के वर्ष के रूप में मानते हैं, लेकिन भविष्य इसे इसी तरह से नहीं देखेगा, अगर मैं बहुत गलती नहीं कर रहा हूँ तो हमारी आने वाली पीढ़ियाँ सत्ता हस्तांतरण के इस वर्ष को असंख्य हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों के साथ बरती गई अमानवीयता से कम ही महत्त्व देंगी। हमारे लिए यह शर्म का वर्ष था, उपलब्धियों का नहीं।'' राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के पौत्र के ये शब्द उन गांधीवादियों को अचंभे में डालने के लिए पर्याप्त हैं जो गांधी-स्तुति में यह कहते नहीं थकते—''दे दी हमें आजादी बिना खड़्ग बिना ढाल, साबरमती के संत तूने कर दिया कमाल।'' आजादी का 'कमाल' कितने बेगुनाह हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों के खून की कीमत पर घटित हुआ, और इस 'कमाल' ने आगे चलकर भारतीय राजनीति में जो 'कमल' खिलाया, वह हर संवेदनशील भारतीय नागरिक के लिए शर्म और लज्जा की बात है।

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय मुसलमानों के मन में पड़ी दरारों और गाँठों को आठ मुस्लिम विचारकों के जीवन और विचारों के परिप्रेक्ष्य में उद्‌घाटित करने का प्रयास करती है। ये आठ विचारक हैं—सैयद अहमद खाँ, मुहम्मद इकबाल, मुहम्मद अली, मुहम्मद अली जिन्ना, फज्लुल हक, अबुल कलाम आजाद, लियाकत अली खाँ और जाकिर हुसैन। सिर्फ ये आठ ही क्यों, अन्य लोग क्यों नहीं? इसकी सफाई लेखक ने भूमिका में यों दी है—''मैंने उन लोगों के, जो अब जीवित नहीं हैं, विचारों और प्रतिक्रियाओं का परीक्षण किया। एक ऐसा सिद्धान्तकार जिसे दुर्भाग्यवश खत्म कर दिया गया, जो कि आधुनिक दक्षिण-एशिया की कहानी के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण था, खान अब्दुल गफ्फार खान, का इस पुस्तक के लिखे जाने के तीन साल बाद 1988 में निधन हो गया।'' यह एक दिलचस्प समाधान है। यहाँ

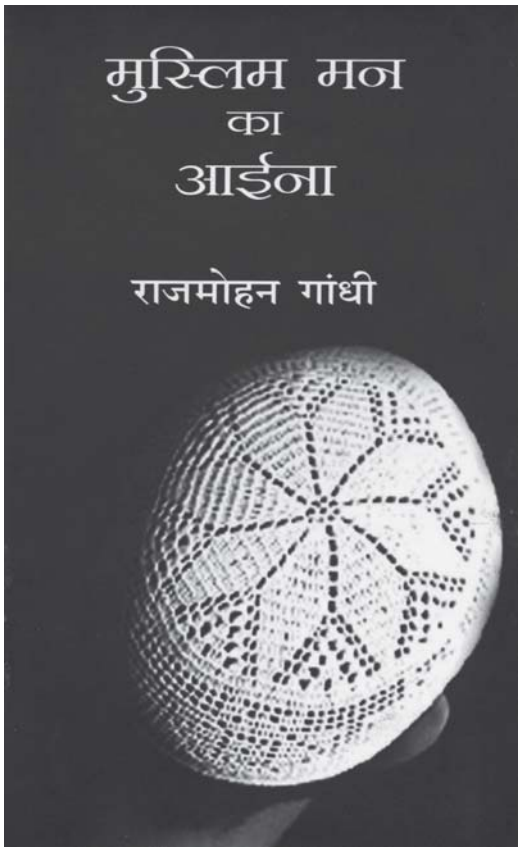

लेखक तथाकथित भारतीयता की उसी मानसिकता में भागीदार है जिसमें व्यक्ति को श्रद्धा, विश्वास और महत्त्व अर्जित करने के लिए जीवन का नहीं, मृत्यु का मुखापेक्षी होना पड़ता है।

यह पुस्तक हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों की गहरी समझ के, और आठ मुस्लिम विचारकों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के गम्भीर अनुसन्धान के आधार पर अपने निष्कर्ष स्थापित करती है। फिर भी इस पुस्तक में हिन्दू-मुस्लिम रिश्तों की ऐतिहासिकता के विविध और जटिल आयामों की उपेक्षा की गई है। हिन्दू-मुस्लिम रिश्तों के इतिहास की जिस व्याख्या को यहाँ आधार बनाया गया है, वह विश्लेषण में लघुकारी (reductive) प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है। पुस्तक में निहित इतिहास-दृष्टि की सहानुभूति रशब्रुक विलयम्स के 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' (टू नेशन थियरी) से है। इसके प्रतिनिधि इतिहासकार आई.एच.कुरैशी और आर.सी.मजूमदार हैं। लेखक ने इन दोनों इतिहासकारों को काफी महत्त्व दिया है। लेखक कहता है कि कुरैशी ने सदियों से हिन्दू-मुसलमानों के बीच बरकरार दूरी के बारे में बहुत साफगोई से कहा है कि ''उन्होंने कम-से-कम रिश्ते रखे हैं। आपसी विवाह करीब-करीब नहीं हुए हैं, क्योंकि इस्लाम हिन्दुओं से विवाह की मनाही करता है और हिन्दू अपनी जातियों के नियम से बँधे रहे हैं। मुट्ठीभर और पश्चिमी रंग-ढंग में रंगे लोगों को छोड़ दें तो एक साथ बैठकर खाने की बात सोची भी नहीं जा सकती। त्यौहार भी आपसी मेल-मिलाप का सामाजिक अवसर नहीं बनते, उल्टे वे दंगों का कारण बनते रहे हैं। दोनों समुदाय सिर्फ धर्म के मामले में ही नहीं, हर

चीज-संस्कृति, जीवन के प्रति दृष्टिकोण, पोशाक खान-पान, फर्नीचर और बर्तनों में अलग रहे हैं। साझा इतिहास का भाव भी नहीं रहा है।''

इसी तरह आर.सी.मजूमदार को भी उद्धृत किया गया है : ''पूर्ववर्ती आक्रमणकारियों की तरह मुसलमानों ने खुद को हिन्दुओं के साथ विलीन नहीं किया और इस प्रकार भारत की आबादी पहली बार दो विशिष्ट पहचान वाली इकाइयों में विभक्त हुई। यह हिन्दू-मुसलमान समस्या की ऐतिहासिक शुरूआत है जिसने छह सौ वर्ष से अधिक समय के बाद पाकिस्तान बनवा दिया।''

इन उद्धरणें की पुष्टि के लिए अल-बरूनी (कि हिन्दुओं के मन में ''सभी मुसलमानों के खिलाफ जबरदस्त नफरत का भाव था'') और इब्न बतूता (कि हिन्दू ''किसी मुसलमान को घर में घुसने और खाने-पीने के अपने बर्तनों को इस्तेमाल नहीं करने देते थे और अगर किसी मुसलमान ने उनके बर्तन में खा लिया तो वे या तो उसे तोड़ देते थे या उसी मुसलमान को दे देते थे'') की टिप्पणियों का हवाला लेखक देता हे। ये सब हवाले और उद्धरण इसलिए कि ''पाकिस्तान अवश्यंभावी था, जरूरी था और नियति में था।'' लेखक आगे कहता है—''शायद ऐसा था भी। अगर ऐसा नहीं था तब भी पिछले करीब 46 वर्षों से तो है ही और हमें उसके (पाकिस्तान) भले की ही कामना करनी चाहिए।'' यह ठीक है कि एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान के अहित की बात सोचना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में निहित राजनयिक सभ्यता के प्रतिकूल ठहरेगा। मगर एक सभ्य राजनयिक मुद्रा को यहाँ सिर्फ इसलिए अपनाया गया है क्योंकि वह 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' को सहानुभूति प्रदान करती है। इस सहानुभूति की वैधता को प्रतिष्ठित करने के लिए लेखक अंबेडकर के इस कथन का मुकम्मल इस्तेमाल करता है :

''अपने को अलग-थलग करने में मुसलमान कुछ रहस्यमय भावनाओं से प्रेरित थे, इसके स्त्रोत को वे बता नहीं सकते थे और वे एक ऐसे अज्ञात हाथ से निर्देशित हो रहे थे, जिसे वे देख नहीं सकते थे। यह रहस्यमय भावना और अज्ञात हाथ और कुछ नहीं, उनकी पहले से तय नियति थी, जो पाकिस्तान के रूप में सामने आई।''

इस तरह लेखक हिन्दू और मुसलमानों

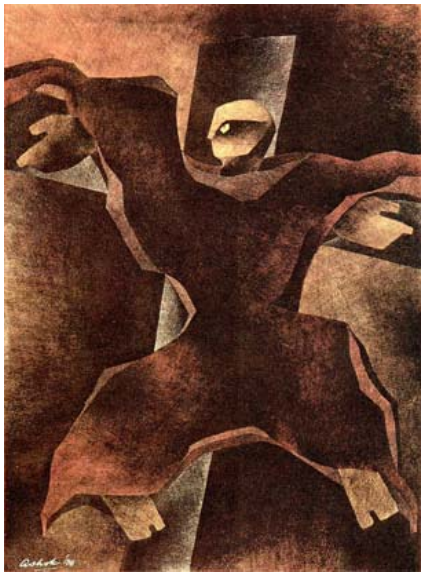

के बीच साम्प्रदायिक भेदभाव के बीज बोने में साम्राज्यवादी ताकतों की भूमिका को नजरअन्दाज ही नहीं करता, बल्कि साफ लफ्जों में कहता है कि ''हमारा अध्ययन यह नहीं दर्शाता कि 'राज' ने हिन्दू-मुस्लिम विभाजन किया। यद्यपि वे हमेशा ही गलत कदम उठाते रहे, तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रिटेन भारत-विभाजन की गाथा का लेखक था।'' वह महात्मा गांधी के इस कथन से सहमत हैं कि ''ब्रिटिश सरकार विभाजन के लिए जिम्मेदार नहीं है।...यदि हम दोनों हिन्दू और मुसलमान ही किसी अन्य बात पर सहमत नहीं हैं तो फिर वॉयसराय के पास भी कोई विकल्प नहीं बचता।''

फिर भी लेखक इस धारणा का जोरदार खण्डन करता है कि 'राज' का प्रयास तो 'एकता स्थापित करने यहाँ (भारत) से चले जाना' था। लेकिन हिन्दू-मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक विद्वेष को उनके आपसी सम्बन्धों की बुनावट के भीतर प्रतिष्ठित करके साम्राज्यवादी ताकतों को क्लीन-चिट देना लेखक के उदारवादी भाव-बोध में निहित 'हिन्दू' ग्रन्थियों को बेबाकी से उजागर करता है। लेखक इन ग्रन्थियों को छुपाने में पूरी कुशलता बरतता है। यही कुशलता उसके इस कथन में दृष्टिगत होती है : ''हम तथ्यों को जानने की कोशिश करेंगे क्योंकि, जैसा कि विलक्षण और चौकस इतिहासकार मुहम्मद मुजीब ने चेतावनी दी है, 'सद्भाव पैदा करने के चक्कर में सिर्फ चुनिंदा तथ्यों को प्रकाश में लाना बड़ी आसानी से सच्चाई को झुठलाना हो सकता है और भारतीयों को साहसी लोगों की तरह वास्तविकता का सामना करने से वंचित कर सकता है।' अगर तथ्यों से उजागर होने वाली सच्चाई उम्मीदों को मुरझाती है और सपने तोड़ती है तो तोड़े। जमीन परखे बिना बने पुल पर भरोसा करने से तो बेहतर है कि बिना पुल के ही रहा जाए।''

बेशक यह एक साहसपूर्ण उक्ति है। इसका इस्तेमाल वस्तुनिष्ठता की वैज्ञानिक सरणियों के पक्ष में होना चाहिए था। अफसोस है कि लेखक ने इसका इस्तेमाल हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों के लघुकारी पाठ को रचने के पक्ष में किया है। तथ्यों को अगर ऐतिहासिक गति की द्वन्द्वात्मकता और समग्रता के प्रकाश में जानने की कोशिश की गई होती तो 'बिना पुल के ही रहे जाने' की मंशा ज्यादा मानीखेज होती। पुस्तक की यह मंशा लेखक के भीतर मौजूद उस 'खालिस हिन्दू' की आवाज बन जाती है, जो अपने को जितना अधिक छुपाना चाहता है, उतना ही ज्यादा प्रकट होता जाता है।

पुस्तक में हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव को सम्भव बनाने वाली अनेक मानवीय प्रस्तावनाएँ हैं। वास्तव में यह प्रस्तावनाएँ पुस्तक की मुख्य 'रेटोरिक' का अविभाज्य अंग है। लेखक हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में निहित समस्याओं का समाधान पूरी ईमानदारी से करना चाहता है। मगर दोष इतिहास-लेखन की उन सारणियों में है, जिनसे वह अपने विश्लेषण के औजार ग्रहण करता है। दिक्कत यह है कि लेखक की इतिहास-दृष्टि को जिस परम्परा ने माँजा है उसके नायक दिनकर और राधाकृष्णन जैसे उदार हिन्दूवादी पुरोधा है। अतः यह पुस्तक दावा तो करती है मुस्लिम मन का 'आईना' बनने का, मगर हकीकत में उस हिन्दू मन का प्रतिनिधित्व करने लगती है, जो उदार होते हुए भी भारतीय मुसलमानों के यथार्थ को अपनी शर्तों पर व्याख्यायित करना चाहता है।

मुस्लिम मन का आईना/ राजमोहन गांधी/ राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : 450.00

1ए, हंटले हाउस, आगरा कॉलेज कैम्पस, एम.जी. रोड, आगरा-282002 (उ.प्र.)/मो.09359976161

धूप सगी तिस्ती कुलके की झील में साक्षात्कार

आचार्य जानकीबल्लभ शास्त्री से विजयशंकर मिश्र की बातचीत

'काकली' की रचना प्रक्रिया और पूर्वपीठिका के सम्बन्ध में कुछ कहें।

मेरा जन्म जिस गाँव में हुआ है, वह गया से पचास मील आगे जंगल-पहाड़ से घिरा गाँव है। मैगरा नाम है। मेरी दृष्टि में वह कभी 'मायाग्राम' रहा होगा जो बाद में चलकर मैगरा हो गया। सूर्योपासक लोग वहाँ अधिक हैं। आर्थिक दृष्टि से तब भी आज भी वह सम्पन्न गाँव है। रईसों की कमी नहीं। उन दिनों उन्हीं रईसों में से कुछ ने पिताजी को नेक और परिस्थितिजन्य सलाह दी कि आर्थिक तंगी में बेटे को अंग्रेजी मत पढ़वाइए, संस्कृत में आसानी से आगे निकल जाएगा। यही से मेरी यात्रा प्रारम्भ हुई। 'लघु कौमुदी' और 'अमरकोष' से प्रारम्भ किया। 'लघुकौमुदी' रटने में दिक्कत तो नहीं होती थी लेकिन बचपन की तुतलाहट के कारण 'अमरकोष' का सही-सही उच्चारण नहीं कर सकता था। निदान में पिताजी का प्रहार-उपहार बन जाता था। प्रथमा परीक्षा प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की। स्कॉलरशिप भी मिला था। गोविन्द विद्यालय दधपा के प्रधानाध्यापक दामोदर मिश्र की कृपा से मध्यमा पास की। हरिशंकर पांडेय विद्यालय का निरीक्षण करने आए थे। उनके स्वागत में संस्कृत भाषा में अभिनन्दन-पत्र लिखने और सस्वर पाठ करने के लिए मुझे ही कहा गया। कुछ अच्छा ही हुआ। उन्होंने ही भविष्यवाणी की कि मैं लेखक और कवि बनूँगा। सन् 1931 में प्रथम श्रेणी में साहित्यशास्त्री किया। लीक से हटकर लिखने का शौक मेरा जन्मजात रहा। 'भारती' में एक संस्कृत गीत प्रकाशित हुआ था। कई गीत और भी प्रकाशित हो चुके थे। प्रोत्साहन मिल रहे थे। मैंने सोचा कि अब इसको छपवाया जाए। पैसे कहाँ थे? किसी-किसी तरह से यह छपी जो मेरी चर्चा का एक बहुत बड़ा कारण बनी। तब तक संस्कृत में इस तरह से नए स्वर में कोई किताब न निकली थी। 'काकली' के बाद एक-दो और किताबें लिखीं। निराला ने सलाह दी कि संस्कृत में भविष्य नहीं हे, श्रम व्यर्थ होगा क्योंकि बहुत तरह की कठिनाइयाँ हैं। युग के अनुरूप चलिए, अंग्रेजी और बंगला पढ़िए, संस्कृत को हिन्दी के करीब लाइए, जरूरत भी है। मुझ पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा और मैंने रास्ता बदल दिया।

चालीस के दशक में उत्तर छायावाद के जिन कवियों ने कवि-मंचों पर अपनी जगह बनाई और खूब लोकप्रिय भी हुए उनमें बच्चन, दिनकर और नेपाली के साथ आपको भी काव्य-पाठ करने का सुयोग मिला था। उन दिनों की स्मृति को याद करते हुए आप कुछ अपने अनुभव सुनाएँ तो हमारा ज्ञानवर्धन होगा।

बिहार में कवि-मंचों पर पहले-पहल गला खुला था मेरा नेपाली के कारण। दिनकर और बच्चन मंचों पर स्थापित हो चुके थे। चारों तरफ उनकी चर्चा बनी रहती थी फिर भी मैं कहना चाहूँगा कि मुझे जब लोगों ने सुना और देखा तो बच्चन, दिनकर और नेपाली को भुला दिया। बिहार में पहला काव्य पाठ मुंगेर में किया था। दिनकर जी का अपना शहर था वह। दिनकर जी की प्रतीक्षा हो रही थी लेकिन जब वे नहीं आए तो थोड़ी निराशा हुई। नेपाली जी मंच पर श्रोताओं को आनन्दित कर रहे थे। मैं पहली बार वहाँ पहुँचा था। मेरे गाने के बाद सारा वातावरण ही बदल गया जैसे। और-और की फरमाइश और लोग झूम रहे थे। नेपाली जी उमड़कर मिलने आए। मुझे बिहार का रवीन्द्रनाथ टैगोर उसी मंच पर अप्रत्याशित रूप से घोषित किया गया। वैसे दिनकर अपने नाम के अनुरूप कविता में भी थे। शब्द भी ओजस्वी और कहना न होगा आवाज भी उतनी ही ओजस्वी थी। उनकी महत्ता को मैं नहीं नकारता हूँ। मैं उनका सम्मान तब भी करता था और आज भी। इसी तरह, राँची के कवि-सम्मेलन में बच्चन जी ने कहा था, तुम्हारा गला काट लेने लायक है जो नहीं भूल पाता हूँ।

आप संस्कृत से हिन्दी में आए इसकी प्रेरणा निराला जी ने आपको दी थी, लेकिन संस्कृत से हिन्दी में आकर जगह बनाना आसान नहीं था। यह केवल

बाह्य संघर्ष तक ही सीमित नहीं था, इसके लिए युवा कवि जानकीवल्लभ शास्त्री जो संस्कृत में ललित ललाम शास्त्री के रूप में पहचाने जा रहे थे, को आत्म-संघर्ष के दौर से गुजरना पड़ा होगा, हम इस सम्बन्ध में आपसे कुछ सुनना चाहते हैं।

यह सच है कि निराला के कारण ही मैं संस्कृत से हिन्दी में आया। लेकिन यह भी जानना जरूरी है कि निराला से पहली मुलाकात संस्कृत की 'काकली' के कवि जानकीवल्लभ से हुई थी। आत्म-संघर्ष तो करना ही पड़ता है रास्ता बदलने पर। कोई सीधे-सीधे पहुँच जाए, वह बात अलग है। निराला का स्नेहदान इस अर्थ में मेरे लिए महत्त्वपूर्ण और गौरवमय है कि उन्होंने मुझे पहले समझा तब माना। उनका अकारण स्नेह भी कारणयुक्त था जिसे लोग ठीक से नहीं समझते हैं। उनकी कृपादृष्टि ताउम्र बनी रही। आज जो कुछ हूँ वह निराला के कारण हूँ या फिर अपनी मौलिक प्रतिभा के कारण। निराला महाकवि तो थे ही महामानव भी थे।

निराला की प्रेरणा से ही मैंने अंग्रेजी और बांग्ला साहित्य पढ़ा था। अपने बेटे रामकृष्ण से बढ़कर मुझे मानते रहे। निराला की स्वर्णजयंती काशी में मनाई जा रही थी। सुभद्रा जी के कहने पर उस आयोजन का प्रारम्भ जब मैंने 'भीम पलाशी' राग में निराला का वह विश्व प्रसिद्ध गीत 'वर दे वीणावादिनी, वर दे' से किया और बच्चन और दिनकर के काव्य पाठ के बाद दूसरे सत्र में 'किसने बाँसुरी बजायी' राग केदारा में जब अपना गीत सुनाया तो विलक्षण बात हो गई। 'मनोहरा स्वर्णपदक' जो निराला के नाम समर्पित था वह मुझे देने की घोषणा कर दी निराला ने। मैंने सकुचाते हुए मना भी किया लेकिन निराला तो निराला थे। यह भाव और लोकव्यवहार देखा जाए। निराला महान थे, उदात्त प्रतिभा-सम्पन्न थे इसलिए उनको अपना आदर्श नहीं माना। माना तो सिर्फ इसलिए कि अपने अनुभव से जो महसूस हुआ। निराला एकमात्र ऐसे साहित्यकार हैं जिनका साहित्य मनुष्य के भीतर एक खास तरह का आत्मविश्वास पैदा करता है जो मेरी नजर में पंत, प्रसाद और महादेवी में नहीं मिलता। मिलता भी है तो निराला की तरह चौंकानेवाला नहीं मिलता। निराला वही और वैसे ही लिखते-गाते रहे जैसे आत्मा प्रेरित करती रही। यह अलौकिक शक्ति उस समय किसी में नहीं थी। लेखन का प्रकाश पारदर्शी था। निराला एक प्रयोग करते थे और वह अभी पूर्णता पर पहुँचा भी नहीं कि नए दूसरे प्रयोग पर दृष्टि चली जाती थी। निराला ने परंपरागत स्थापित मूल्यों के प्रति केवल विद्रोह नहीं किया, नए मूल्यों को गढ़ा भी। अपनी अन्तर्व्यथा खुद लिखी और खुद उसका प्रतिकार भी किया। उनका सन्दर्भ व्यक्तिगत था, विलक्षण था।

चौथे दशक में ही लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का अधिवेशन हुआ था। बहुत से कवि-लेखक प्रगतिशील आन्दोलन के प्रभाव में आए। आप भी उस प्रभाव से पूरी तरह बच नहीं सके हैं। प्रगतिवाद के यथार्थवादी रुझान से आपकी संवेदनात्मक ज्ञानधारा का कुछ सम्बन्ध तो होगा ही। कृपया इस सम्बन्ध में कुछ कहें।

डॉ. मुल्कराज आनन्द ने प्रेमचन्द की अध्यक्षता में सन् 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की नींव डाली। वर्तमान में प्रगतिशील आन्दोलन क्या होता है, मैं नहीं जानता। हाँ, इतना जानता हूँ कि हर आदमी गतिशील है। एक जगह बैठे रहना उचित भी नहीं। छायावाद के विरोध में यह आन्दोलन खड़ा हुआ था, यह मैं कह सकता हूँ। मैंने उसे समय विशेषज्ञ की राजनीतिक विचारधारा समझ नहीं अपनाया। अगर मेरी कविताओं में प्रगतिशीलता नजर आती है तो वह मेरा निजी संस्कार हो सकता है। नकल मैंने कभी नहीं की, किसी की नहीं की। अपने जीवन को सब दिन सबसे बड़ा माना। शास्त्र और पुराण पढ़कर भी यही निष्कर्ष निकाला कि जीवन से बड़ा कुछ नहीं होता है। आप देखकर भी यह महसूस कर सकते हैं कितनी ही राजनीतिक कविताएँ मैंने लिखीं। किन्तु राजनीतिक प्रतिबद्धता का कायल कभी नहीं रहा। एक ही तरह का आइडिया बनाकर लिखने में प्रतिबद्धता आती है और जीवन-जगत की विविधताएँ अकारण हाथ से निकल जाती हैं। वादों के खूँटे में बँधकर कोरी समसामयिक राजनीतिक हलचलों पर कलम चलाने में संवेदना का वह पक्ष छूट जाता है जो सबको एक सूत्र में बाँधकर चलने का व्यापक भाव रखता है।

आपके आलोचनात्मक लेखन से संस्कृत की संस्कृति के गौरवशाली अतीत के प्रति हम लोगों में जिज्ञासा का भाव प्रबल हो उठता है। संस्कृत में आपकी आत्मा के अनन्य संगी कालिदास ही हैं तो क्यों हैं?

'कालिदास' मेरे सबसे प्रिय कवि रहे क्योंकि उनमें जो पारदर्शिता और गहराई है वह माघ, भवभूति, भारवि आदि किसी में नहीं। बहुत छोटी उम्र में यानी ग्यारह की उमर में रघुवंश पढ़ गया था। कालिदास के पास कोई नहीं पहुँच सका है। शाश्वत कवि थे। कालिदास से लगाव के कारण मैंने 'शिप्रा' और 'अवन्तिका' लिखी। मेघदूत के छन्द तो छात्र जीवन में ही फूटने लगे थे। कालिदास हर घड़ी मेरी चेतना में जीते रहे हैं। मेरी दृष्टि में तो काली ही उनकी दासी थी, वे काली के दास नहीं थे। कालिदास से युगयुगान्तर तक प्रकाश मिलता रहेगा।

आपके रचनात्मक जीवन के आरम्भ में हिन्दी आलोचना का परिदृश्य कैसा था? 'साहित्य-दर्शन' के निबन्धों के लेखन की रचना-प्रेरणा आपको कहाँ से मिल रही थी?

'साहित्य-दर्शन' की रचना-प्रक्रिया की प्रेरणा अपने भीतर से मिली। वैसे मैं श्यामसुन्दर दास और रामचन्द्र शुक्ल का छात्र रहा हूँ। अगर पुट आए भी तो अनायास ही कहना चाहिए। चाहकर मैंने कभी लिखा ही नहीं। हर विधा में अपनी कलम आजमाने का शौक और संस्कार शुरू से रहा है। यह बात समझने की है कि 'साहित्य-दर्शन' के पाँच संस्करण प्रकाशित हुए। अगर मैं किन्हीं का अनुकरण करके लिखता तो शायद उतना लोकप्रिय यह नहीं हो सकता था।

इसमें सन्देह नहीं कि आपके सबसे 'आत्मीय' कवि कालिदास हैं। यह स्थिति तब भी थी जब निराला 'तुलसीदास' पर प्रबन्ध-काव्य लिख रहे थे। वे उनकी दृष्टि में महान कवि थे। रुचि की इस भिन्नता के बावजूद निराला और जानकीवल्लभ शास्त्री के अटूट सम्बन्धों का क्या रहस्य है?

निराला को तुलसीदास प्रिय थे इसलिए उन पर प्रबन्ध लिखा और मुझे कालिदास प्रिय हैं इसलिए कालिदास पर कविता लिखी, उपन्यास भी लिखा। शैली जीने की अपनी-अपनी होती है। निराला महान थे, अद्‌भुत स्रष्टा थे फिर भी उसी हद तक मैंने उन्हें स्वीकारा जहाँ मेरी रुचि को ठेस नहीं लगे और सबसे बड़ी बात कि निराला भी यही चाहते थे। अटूट सम्बन्ध का सबसे बड़ा कारण यही है कि दोनों के दिल की आवाज पहचानते थे। थोपा हुआ गुरु-शिष्य सम्बन्ध तब नहीं था। जीने और लिखने की स्वतन्त्रता हर जगह मौजूद थी। मैं उनको अपना आदर्श मानता हूँ, आस्था भी उतनी है फिर भी मेरा और उनका सामाजिक धरातल एक जैसा नहीं रहने के कारण रचना-दृष्टि और शिल्प-सृष्टि के संस्कार में एक खास तरह का अन्तर रहा। निराला माँसाहारी होकर भी मेरे देवता बने रहे और मैं शाकाहारी होकर भी उनका शिष्य और भक्त रहा– अंधविश्वास और अंधभक्ति नहीं रही।

कम ही सही, आपने भी मुक्त छन्द में प्रगति और प्रयोग को वाणी दी है। आजकल गीत के समर्थक छन्द की वापसी पर बल देते हैं। क्या छन्द में लिखने भर से हिन्दी कविता का गतिरोध निर्मूल हो सकता है?

मैंने यह सोचकर कि मुक्तछन्द में लिखूँ ताकि आधुनिक कविता धारा में भी अपनी पहचान बने, नहीं लिखा। प्रगति और प्रयोग की कोई निश्चित अवधारणा लेकर लिखना कभी चाहा ही नहीं फिर भी यदि पुट है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं इसके लिए। जहाँ तक छन्दों की वापसी का सवाल है तो मेरा मानना है छन्द गया कहाँ जो वापसी होगी। छन्द हर युग में प्रधान रहा है। छन्द से तो भारतीय ज्ञानधारा की शुरूआत ही हुई। हाँ, लेकिन आजकल जिस तरह के छन्दों में लिखा जा रहा है उसका कोई पुष्ट आधार नहीं दिखता जो चिन्तनीय है। आजकल छन्दोबद्धता के नाम पर मात्रादोष तो जगह-जगह दिखते हैं। क्या जरूरी है कि जब छन्दों की सम्यक् जानकारी न हो तो भी उसी साँचे में अपना भाव व्यक्त किया जाए? क्या किसी छन्दोबद्ध रचना से कम है निराला की मुक्तछन्द की पहली रचना 'जूही की कली' या फिर सर्वहारा वर्ग का प्रतीक दीर्घकाव्य 'कुकुरमुत्ता'? आप जो भी कहें-लिखें, बात दिल तक पहुँचे, वही टेकनिक अच्छा है। बात को भाव बनाना कठिन है। रटी-रटाई बातों से चमत्कार पैदा नहीं होता है।

सामान्य धारणा है कि छायावादी प्रगीत के बरअक्स उत्तर छायावादी गीतों को अधिक लोकप्रियता मिली, बावजूद इसके हिन्दी में कला-गीत के शिखर पर प्रसाद और निराला ही आसन जमाए बैठे हैं तो निश्चित रूप से इसके कुछ कारण होंगे। हम आपसे इस सम्बन्ध में सुनना चाहते हैं।

उत्तर-छायावाद में गीतों को अधिक प्रतिष्ठा और लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण मैं यही समझता हूँ कि एक तरह से वह युग काव्य-कला प्रदर्शन प्रिय मंच था। जहाँ तक निराला और पंत-प्रसाद की बात है तो यही समझना चाहिए कि उनमें खास किस्म की तरलता और गम्भीरता थी। प्रसाद जी मंचों पर नहीं जाते थे, निराला तो जीवनभर जाते रहे और दोनों के गीत याद हैं आज भी कितनों को। निराला का वह प्रसिद्ध प्रार्थना-गीत 'वर दे वीणावादिनी, वर दे' और प्रसाद का 'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' का लोहा आज भी कोई श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर गीत नहीं ले सकता है। विकास और प्रगति का ढोल पीटनेवालों को यह जरूर स्वीकार करना चाहिए कि हिन्दी को सही जगह पर लाने-पहुँचाने का पवित्र कार्य प्रसाद और निराला ने ही किया। बाद में और लेखक-कवि उस सन्दर्भ से जुड़ते गए।

आपकी दृष्टि में श्रेष्ठ कविता के लिए एक प्रतिभासम्पन्न कवि को क्या करना चाहिए?

लिखने की जल्दबाजी से लेखन समृद्ध नहीं होता है। आजकल लोग रातोरात कवि-लेखक बनना चाहते हैं। उस युग के प्रतिभासम्पन्न कवियों में ऐसी बात नहीं थी। आज ठीक उसका उलटा देख रहा हूँ। धैर्यपूर्वक साधना न करने से प्रसिद्धि मिल सकती है, सिद्धि कदापि नहीं। सृजन कोई व्यापार नहीं है, तपस्या है। तप का अर्थ ही होता है

तपना और जो तपने से घबराएगा वह तपस्या कैसे कर सकता है। तात्कालिक यश, लाभ और अर्थ प्राप्ति ने मनुष्य को वर्तमान प्रेमी बना दिया है। मेरा अतीत क्या होगा और भविष्य किधर जा रहा है इस पर प्रतिभासम्पन्न कवियों को ध्यान देना चाहिए। बहुत-बहुत समय लगकर भी यदि ठोस और सुन्दर चीज निकले तो वही श्रेयस्कर है। जिन्हें भी आप अपने से श्रेष्ठ मानते हों उनकी दृष्टि और सृष्टि पर गहरा और ईमानदर सर्वेक्षण-मूल्यांकन करने से अपनी रचनात्मकता अपेक्षाकृत सारगर्भित, मौलिक और सुन्दर होगी।

आपने कालिदास पर उपन्यास लिखा है उसमें कालिदास का जीवनवृत्त और व्यक्तित्व-विकास बहुत ही विश्वसनीय ढंग से प्रदर्शित किया गया है किन्तु इसके अधिकांश पाठक कालिदास की कृतियों के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करने के लिए ही उसे पढ़ते हैं। कालिदास पर आख्यान लिखते हुए क्या आपके ध्यान में यह बात थी?

कालिदास पर उपन्यास लिखते हुए मेरा ध्यान उनके कृतित्व और व्यक्तित्व पर रहा। उनका जीवनवृत्त दुहराने से क्या फायदा था। जो लोग उनकी कृतियों के बारे में जानना-पढ़ना चाहते हैं उनके लिए यह उपन्यास है ही नहीं। वह कोई बायोग्राफी नहीं है। कालिदास के चिरंतन सत्य, मौलिक प्रतिभा और शाश्वत सौन्दर्य के बारे में जो कहना था कह दिया। जो बहुत पहले कहा जा चुका वह फिर से कहने का कोई अर्थ नहीं होता। मैंने इस उपन्यास में कालिदास के बारे में किंवदंतियों की दीवार तोड़ी है, नया अर्थ दिया है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दिनों में संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त बांग्ला साहित्य का भी आपने मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था। हम आपसे रवीन्द्रनाथ और माइकेल मधुसूदन दत्त के बारे में जानना चाहते हैं।

बंगला साहित्य का विविधवत अध्ययन मैंने निराला के कारण किया था। उसी क्रम में माइकेल मधुसूदन और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर को पढ़ने का अवसर मिला। टैगोर का साहित्य अछूते बिम्बों का साहित्य है। बंगला साहित्य पर मेरे कितने आलेख छपे, परीक्षक भी बन चुका हूँ, बंगला लिपि में ढाका से साहित्य की परीक्षा भी दी थी। टैगोर का जीवन और साहित्य अछोर तक पहुँचने-पहुँचाने का साहित्य है जबकि माइकेल मधुसूदन में मिठास के साथ गहरा विश्लेषण भी दिखता है। उस समय जिस समय मैं बनारस में पढ़ रहा था, टैगोर जी की दृष्टि के बारे में यही कहा जाता था कि उनकी भावना एक देशीय नहीं, सौन्दर्य अपवित्र नहीं, चेतना एकांकी नहीं है। साधन भी उनके पास मौजूद थे और प्रतिभा तो थी ही, आगे बढ़ते चले गए। बंगाल में उस समय नवजागरण जोरों पर था लेकिन उसमें एक ऐसी जटिलता थी कि साधारण जनता उससे विमुख होना चाहती थी। माइकेल ने एक बड़ा काम किया, उस जटिलता को सरलता में परिवर्तित कर वहाँ के विक्षोभ को एक नया स्वर दिया। माइकेल की कविता में शहद जैसी मिठास है, स्वाद नया है। रवीन्द्र जिस मानवता की बात करते हैं और जिसके कारण उनको इतनी प्रतिष्ठा मिली वह माइकेल में भी है यह जानना चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावादी कवियों पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव माना है। इस मान्यता की वस्तुस्थिति क्या है?

यह रामचन्द्र शुक्ल की अपनी दृष्टि है कि उन्होंने छायावाद पर टैगोर का प्रभाव माना है। मेरी दृष्टि में यह सही नहीं है। टैगोर से पहले छायावाद प्रवेश कर चुका था जिसके सशक्त उदाहरण घनानन्द हैं। वस्तुस्थिति यही है कि शुक्ल जी के पास मापदण्ड के अनुसार सामग्री का अभाव था। वैसे उनकी प्रामाणिकता पर सन्देह भी नहीं किया जाना चाहिए। शुक्ल जी वी.एच.यू. में प्राध्यापक थे। हिमालय वाली हैसियत थी उनकी। शुरू में छायावाद के प्रति उनका विचार उदार और तटस्थ बिलकुल नहीं था और बंगला से तो प्रभावित थे ही। उनकी आलोचना मापदण्ड बन जाती थी। लेकिन आलोचना की आलोचना भी छायावाद में हुई और शुक्ल जी का भी स्वर धीरे-धीरे बदलता गया और आक्षेप की जगह अपेक्षाएँ उनकी बढ़ने लगीं। भारतेन्दु युग में खड़ी बोली हिन्दी का विकास सिर्फ गद्य में हुआ, कविता में नहीं। द्विवेदी युग में तुकबन्दी की ही प्रधानता रही, विषय की नवीनता न थी। उपदेश और छन्द के चमत्कार से काव्य समृद्ध नहीं हो रहा था। उसी समय बंगला में टैगौर की तूती बोल रही थी क्योंकि नोबेल पुरस्कार भी जो संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार माना जाता है, मिल चुका था। इधर अंग्रेजी के कारण पश्चिम की सभ्यता और संस्कृति से यहाँ भी युवा पीढ़ी परिचित हो रही थी। नए मूल्यों को खोजने और स्थापित करने के लिए अंग्रेजी और बंगला दोनों की स्वीकृति हुई फिर भी छायावाद भारत की जमीन का भारतीय वृक्ष है।

आपने विभिन्न काव्य रूपों में मुक्तक और प्रबन्ध के क्षेत्र में कुछ विलक्षण प्रयोग किए हैं। इसके अतिरिक्त संगीत नाटकों की भी रचना की है। एक तरफ इतना सधा हुआ सर्जनात्मक लेखन और दूसरी तरफ समानांतर रूप से शुद्ध साहित्यिक आलोचना साहित्य का लेखन आप कैसे कर लेते थे?

जो खुद की आलोचना नहीं कर सकता वह आलोचक नहीं हो सकता। नकल से नहीं अकल से आलोचना का ज्ञानवर्धन होता है। क्या कहना है, कैसे कहना है यह आलोचक के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। आलोचक का यह धर्म नहीं कि मणि पर पत्थर उछाले या कोयला फेंके। सुन्दर को सुन्दर कहना और असुन्दर को सुन्दर बनाने का सलीका पेश करना कर्तव्य है। आलोचना कोई धन्धा नहीं न अन्धे की तरह लाठी टेककर आगे बढ़ना है। 'साहित्य-दर्शन' मेरी एक किताब है उसे पढ़कर समझ सकते हैं कि एक सच्चा आलोचक भावुक कवि हुए बिना बनना कठिन है। शुक्ल जी कितने होंगे जिनके लेखन में विरोध और समर्थन की उभयनिष्ठता सदा रही।

आप 'राधा' महाकाव्य के प्रणेता हैं तो जाहिर है, उस पर श्रीमद्भागवत के अनुशीलन का कुछ-न-कुछ असर तो होगा ही। इसके अतिरिक्त प्रमुख भारतीय भाषाओं में भी राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं पर लिखा गया है। आप 'राधा' की संरचना के बारे में कुछ बताएँ जिससे समीक्षा के क्षेत्र में नवांगुतकों को सहयोग प्राप्त हो।

'राधा' बिलकुल अपने ढंग का महाकाव्य है। यह श्रीमद्भागवत की आवृत्ति नहीं। इसकी प्रकृति का मेल है ही नहीं किसी से। इसके छन्द भी अपने ढंग के हैं। इसमें 'राधा' एक धारा है प्रेम और भावना की धारा जिसके एक तट पर कृष्ण की बाँसुरी बजती है तो दूसरे तट पर पांचजन्य भी बजता है। बीच में पायल छनकाती राधा निश्छल नेह का प्राणगान गाती है। इसकी प्रेरणा कदाचित् मुझे वृन्दावन और मथुरा यात्रा के क्रम में मिली। इधर किसी ने

बताया कि किसी यूनिवर्सिटी में इस पर शोधकार्य चल रहा है जो बहुत पहले होना चाहिए था। इसकी भाषा भी अपनी है। पंत, प्रसाद और निराला की भाषा नहीं मिलेगी, पढ़कर देखिए तो अन्दाजा लग जाएगा कि भाषा के साथ छन्द भी इसमें अपने ढंग से सृजित है। इसकी हजारों प्रतियाँ बिक चुकीं लेकिन मैं तब भी सन्तुष्ट नहीं हूँ क्योंकि उचित स्थान जो इसे मिलना चाहिए था उससे अभी दूर है। वैज्ञानिक समाजवादियों को शायद यह महाकाव्य आँखों पर नहीं चढ़ पाता है। जौहरी का जमाना लद गया, हीरा उदास है।

निराला के प्रति अपार स्नेह का कोई एक महत्त्वपूर्ण संस्मरण सुनाएँ।

निराला के अपार्थिव स्नेह से जीवनभर अभिषिक्त होता रहा हूँ। उनके बारे में अनर्गल टिप्पणी मैं नहीं सह सकता था। एक बार प्रेमचन्द के 'जागरण' में निराला को बिना दिखाए और उनसे बिना पूछे द्विज जी ने उनका एक रेखाचित्र प्रकाशित करवा दिया था। सच पूछिए तो मेरी नजर में वह रेखाचित्र छपने के योग्य न था क्योंकि वह ऐसा शब्द-चित्र था जिससे निराला के चरित्र पर उलटा प्रभाव पड़ता। शायद निराला को छोटा करने के उद्देश्य से ही द्विज ने यह काम किया होगा। जब 'जागरण' हाथ में आया और वह शब्द-चित्र देखा-पढ़ा तो मुझे मर्मांतक पीड़ा हुई। निराला की उदात्त काव्य-सृष्टि को लोग भूल जाएँ यह मेरे लिए असह्य था। द्विज जी बहुत उदार और मनस्वी विद्वान थे। वही द्विज जी पूर्णिया के कवि-सम्मेलन में जहाँ मुझे ठहराया गया था बार-बार आकर देखते रहे, हाल-समाचार पूछते रहे। वह भी एक युग था। प्रतिस्पर्धा थी, संकीर्णता और आजकल वाली तुच्छता नहीं थी।

प्रसाद जी से प्रगाढ़ सम्बन्ध की भूली-बिसरी यादें कुछ बताएँ।

सन् 1932 में बनारस के टाऊन हॉल में रत्नाकर की याद में एक काव्य-गोष्ठी आयोजित थी जिसकी अध्यक्षता प्रसाद जी कर रहे थे। पहले-पहल वहीं देखा था। लगभग दो-तीन वर्ष बाद निराला जी उनसे मिलाने के लिए ले गए थे। निराला जी ने मेरा परिचय थोड़ा बढ़ाकर दिया। 'आचार्य' जानकीवल्लभ कहकर उन्होंने वहीं पर पुकारा था। फिर, 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' में मैथिलीशरण गुप्त की स्वर्णजयंती मनाई जा रही थी जिसमें सबसे आगे प्रसाद, निराला और रामचन्द्र शुक्ल बैठे थे। निराला को बोलने के लिए कहा गया। निराला खूब जमकर बोले और मंच से उतरते वक्त कहा—अब मेरे बाद आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी संस्कृत में कुछ बोलेंगे। मैं सबसे कम उम्र का आदमी था वहाँ। अवस्था लगभग 19 की रही होगी। कुछ अच्छा ही बोल गया। प्रसाद जी ने मेरी पीठ थपथपायी और शुक्ल जी एकटक देख रहे थे कि यह कौन आदमी है जो इतनी कम उम्र में इतना अच्छा बोल लेता है। उसके बाद से प्रसाद जी का स्नेह प्रगाढ़ होता चला गया। रायगढ़ राजकवि बनकर चला गया था। शास्त्राचार्य और इंटरमीडियट की परीक्षा देने बनारस आया था इसी बीच पता चला कि प्रसाद जी बहुत बीमार हैं। देखने गया तो साहित्य पर बोलने लगे। उनके भीतर सृजन का भाव तब भी झलक रहा था। कुछ दिन और जीवित रहते तो शायद उनसे हिन्दी को और भी बहुत कुछ प्राप्त होता।

साहित्य में परिवर्तन की बात होती है इसका क्या अभिप्राय है?

परिवर्तन की आकांक्षा हर किसी में होती है। हर कोई थोड़ा बहुत बदलाव चाहता है। खासकर रचनात्मक प्रतिभा वाले तो इस क्षेत्र में सबसे आगे रहना पसन्द करते हैं। हिन्दी में इतने सारे वादों का जन्म और अकारण असमय अवसान के पीछे धारणाओं का तुरन्त-तुरन्त खंडन-मंडन बहुत बड़ा कारण बना। सूखी ललकार और कोरे नारेबाजी का मैं कायल नहीं रहा। लिखा जरूर लेकिन ढिंढोरा पीटना पसन्द नहीं किया। क्रान्ति में भी सौन्दर्य का संधान करता रहा। मैंने उसी सीमा तक राजनैतिक आधुनिक कविताएँ लिखीं जहाँ तक कला बची रहे। जन-चेतना को उभारने के पक्ष में कला का पक्ष कभी नजर अन्दाज नहीं किया। मेरा विरोध और विद्रोह आन्तरिक अनुभूतियों से अनुप्राणित है। अपने को पहचाने बगैर युग की पहचान असम्भव है।

रायगढ़ में राजकवि का पद सुशोभित किया था, वहाँ का अनुभव आपसे जानना चाहते हैं।

छायावाद के प्रथम कवि मुकुटधर पांडेय ने कुछ अलग तरह से मेरा परिचय पहले ही दे दिया था। राजा चक्रधर सिंह वहाँ के रूलिंग चीफ थे। उनको एक ऐसा व्यक्ति चाहिए था जो संस्कृत और हिन्दी दोनों धाराप्रवाह बोलता-लिखता हो। साक्षात्कार के समय राजा ने मुझसे कहा कि ''जब जरा गर्दन झुकाई देख ली'' का संस्कृत में अनुवाद कीजिए। तुरत बताया—'प्रतिग्रीवा भंग नयन सुख संग जनयति'। मेरी नियुक्ति हो गई और डाकबंगला में ठहरने का प्रबन्ध हुआ। लेकिन एक यह भी सच था कि वहाँ का वातावरण मेरे स्वभाव के अनुकूल न था। राजभवन में रहकर भी लगता था मरुस्थल का निवासी हूँ। ऊब, घुटन और परतन्त्रता में मेरी मौलिकता समाप्त हो रही थी। वहाँ की नकली जिन्दगी रास नहीं आई। फलतः एक-डेढ़ साल के बाद रायगढ़ छोड़ दिया। छोड़ने का आत्मिक सुख आज भी ताजा है।

क्या आप अपनी उपलब्धियों पर पूर्ण सन्तुष्ट हैं?

गरीब और अकेला होने के कारण जितना होना चाहिए था उतना प्रचार नहीं हो सका। होता तो मेरी उपलब्धियाँ इस तरह बेकदर नहीं हो पातीं। मेरा असन्तोष इस बात का है कि मैं जिसका पात्र हूँ वह मुझे नहीं मिला। पिछले रास्ते से दरबार में प्रवेश करना चाहता तो इस तरह का असन्तोष मुझे भी नहीं होता। मैं और आगे जा सकता था और जाता लेकिन नहीं हुआ जो सोचा था। दिल के इस दर्द को कौन समझेगा। जो भी अर्थ लगाया जाएगा वह कपोलकल्पित ही होगा, यथार्थ से उसका रंचमात्र सम्बन्ध नहीं। मेरा यथार्थ किसी साँचे में ढला यथार्थ नहीं, वह क्षण-क्षण का भोगा हुआ यथार्थ है। शास्त्रों को पढ़कर-गुनकर भी जीवन से बड़ा शास्त्र को नहीं मानता हूँ। सबसे भिन्न लिखने के कारण मेरे अन्तस्तल की ध्वनियाँ अबूझ और अनकही रहीं। सहजता से जितना हो सका, किया—निष्ठा और ईमानदारी से किया, इसका सन्तोष भी है।

'निराला निकेतन', आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री पथ, मुजफ्फरपुर-842001/मो. 09430460435

व्यापार की दुनिया में वह आदमी प्यार का इंतजार करता था

अशोक पाण्डे

यह दुर्लभ सुखद संयोग है कि इरविंग स्टोन को 1926 में पेरिस में उनका एक दोस्त एक गुमनाम डच कलाकार विन्सेन्ट वॉन गॉग की प्रदर्शनी दिखाने ले गया, जिससे प्रेरित होकर अमेरिका लौटने के बाद उन्होंने उनकी जीवनी लिखी। 1934 ई. में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'लस्ट फॉर लाइफ' के लगभग 68 वर्षों बाद 2001-2002 की अपनी वियेना यात्रा के दौरान वहाँ के लियोपाल्ड म्यूजियम में उन दिनों विशेष रूप से प्रदर्शित की जा रही विन्सेन्ट वॉन गॉग के चित्रों की प्रदर्शनी देखने के बाद सहृदय लेखक अशोक पाण्डे के मन में 'लस्ट फॉर लाइफ' को हिन्दी में अनूदित करने की इच्छा हुई। अंग्रेजी संस्करण के 72 वर्षों बाद अब यह अनुवाद 2006 में संवाद प्रकाशन ने उपलब्ध करवाया है। –संपादक

ठीक-ठाक याद नहीं पड़ता विन्सेंट वॉन गॉग की कला से पहला साक्षात्कार कब हुआ था लेकिन उसके ब्रश के गाढ़े जल्दबाजी में लगाए गए स्ट्रोक्स याददाश्त में तुरन्त दर्ज हो गए होंगे। शायद यही वजह रही होगी कि बारहवीं कक्षा पास करते न करते इरविंग स्टोन की लिखी उसकी जीवनी 'लस्ट फॉर लाइफ' मेरी सर्वप्रिय पुस्तकों के लिस्ट में सबसे ऊपर आ गई–आएन रैंड की 'फाउंटेनहैड' से भी ऊपर जिसका विद्रोही वास्तुशिल्पी नायक हावर्ड रोर्क साथ के लड़कों का हीरो बना रहा।

कुछ ही वर्षों के बाद मेरे संग्रह में विन्सेन्ट वॉन गॉग की पेन्टिंग्स वाली चार-पाँच मोटी कॉफी टेबल बुक्स आ चुकी थीं–पॉकेटमनी से बचाए गए पैसों की बदौलत। 'लस्ट फॉर लाइफ' दो या तीन बार और पढ़ी जा चुकी थी–हालाँकि पढ़ने का शऊर तब भी नहीं आया था।

विन्सेन्ट सम्भवतः एक स्वप्नदृष्टा, रोमांटिक और अतिसंवेदनशील चित्रकार के ही तौर पर मेरे भीतर बना रहता यदि उन्हीं दिनों मुझे उसके और उसके छोटे भाई थियो के बीच चले अद्वितीय और ऐतिहासिक पत्र-व्यवहार 'द लैटर्स ऑफ विन्सेंट वॉन गॉग' की सूरत में न मिले होते। पत्रों की तरतीब बताती है कि ये 1872 से लिखे जाने शुरू हुए थे और विन्सेन्ट की मृत्यु के कुछ दिन पहले तक लिखे जाते रहे। 1872 में विन्सेंट कुल उन्नीस साल का था और थियो पन्द्रह का।

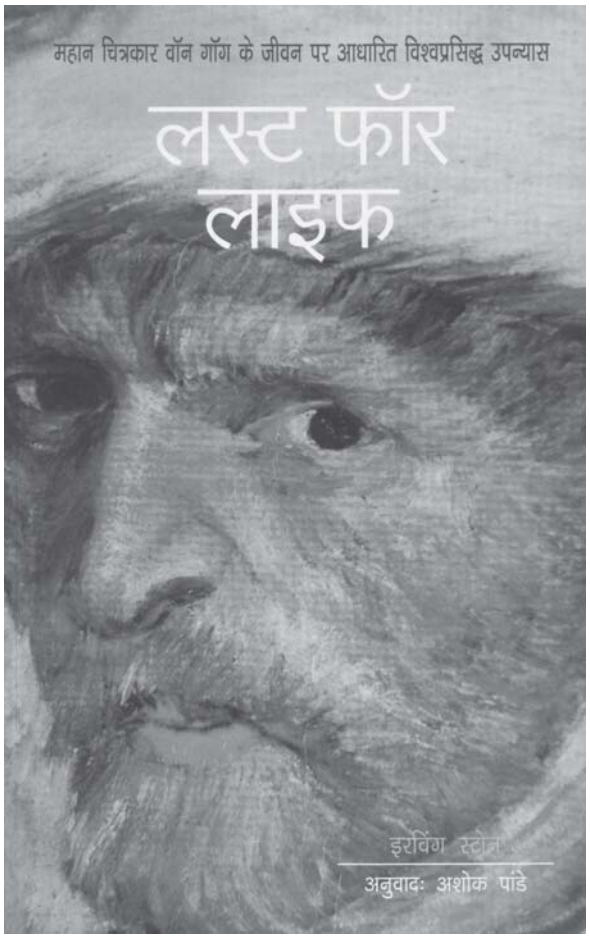

इन पत्रों से विन्सेंट की जो छवि उभरती है वह ऐसे सहृदय व्यक्ति की है जो प्रेम से लबालब भरा हुआ था, दूसरों की हर जरूरत का भरसक ध्यान रखने की कोशिश करता था, जो एक विनम्र पारिवारिक व्यक्ति बना रहना चाहता था और जिसके भीतर कला के इतिहास और समकालीनता की गहरी समझ थी।

1872 और 1873 में लिखे गए उसके शुरूआती पत्र उसकी कला-मर्मज्ञता की बेहतरीन मिसालें हैं। यह दीगर बात है कि तब तक यही तय था कि भविष्य में दोनों भाइयों ने यूरोप भर में फैले वॉन गॉग परिवार के कला-व्यवसाय का प्रबन्धन सम्हालना था। विन्सेंट ने सपने में भी शायद नहीं

सोचा था कि एक दिन वह चित्रकार बनने वाला है। बीस जुलाई 1873 को लन्दन की गूपिल्स गैलरी में बैठा वह अपने प्यारे भाई को लिखता है।

''शुरू-शुरू में मुझे अंग्रेजों की कला पसन्द नहीं आई; उसकी आदत डालनी पड़ती है। लेकिन यहाँ कई सारे अक्लमन्द कलाकार हैं। उनमें से एक हैं मिलाइस, जिन्होंने 'द हैगनॉट' और 'ओफीलिया' जैसी पेन्टिंग्स बनाई है। ये खूबसूरत कलाकृतियाँ हैं। फिर बोटन हैं जिनकी 'प्योरिटन्स गोइंग टु चर्च' हमारी गैलरी में है; मैंने उनकी बनाई बेहतरीन कलाकृतियाँ देखी हैं। पुराने कलाकारों में एक लैण्डस्केप आर्टिस्ट था—कॉन्स्टेबल। वह करीब तीस साल पहले तक जीवित था; उसका काम शानदार है;—वह मुझे डायज और डॉबिन्जी की याद दिलाता है। फिर रेनॉल्ड्स और गेन्सबरो हैं जिनकी खूबी सुन्दर स्त्रियों के पोर्टेट्स हैं और टर्नर। उसकी एन्ग्रेविंग्स शायद तुमने देखी है।''

पत्र में आगे वह थियो को नए फ्रांसीसी चित्रकारों से परिचित कराता है। ऐसे ढेरों पत्रों का सिलसिला है जो करीब सत्रह साल चला। अपने काम के प्रति विन्सेन्ट वॉन गॉग कितना सचेत और ईमानदार था, इन पत्रों से जाना जा सकता है।

'द लैटर्स' पढ़ने के बाद विन्सेन्ट के प्रति श्रद्धा और बढ़ी। फिर किसी ने कहीं से लाकर 'लस्ट फॉर लाइफ' फिल्म लाकर दी। 1956 में बनी इस अमेरिकी फिल्म के मशहूर कलाकारों कर्क डगलस और एन्थनी क्विन ने क्रमशः विन्सेन्ट वॉन गॉग और पॉल गोगां की भूमिकाएँ की हैं। सच तो यह है कि किताब के आगे फिल्म कहीं नहीं ठहरती गोकि कर्क डगलस और एन्थनी क्विन का काम बेमिसाल है। जाहिर है फिल्म देखने के बाद किताब एक बार और पढ़ी गई।

1999 में एक शानदार डॉक्यूमेन्टरी हाथ लगी—डच ऑस्ट्रेलियाई मूल के फिल्मकार पॉल कॉक्स की 'द लाइफ एंड डैथ ऑफ विन्सेंट वॉन गॉग'। कैमरा उन तमाम जगहों पर जाता है जहाँ विन्सेंट ने चित्र बनाए थे—खेत, झोंपड़े, शराबखाने, गिरजाघर वगैरह, मानो कलाकार की रचनाप्रक्रिया में प्रवेश करने की कोशिश की जा रही हो। कैमरा अचानक स्टिल होता है और लैण्डस्केप विन्सेंट की पेंटिंग में तब्दील हो जाता है।

विन्सेन्ट वॉन गॉग को समझने के लिए इनके अलावा एक और जरूरी फिल्म है 'विन्सेंट एंड थियो' रॉबर्ट आल्टमान द्वारा निर्देशित इस फिल्म में टिम रॉथ ने विन्सेन्ट की भूमिका निभाई है। पके गेहूँ का एक शानदार खेत है जो अपना चित्र बनाए जाने की माँग कर रहा है। विन्सेंट के सामने एक खाली कैनवस है पर उसे जैसे लकवा मार गया है और वह पहली और आखिरी बार हार मान लेता है। फिर आपको दिखता है सड़ गए दाँतों वाला अपने भाई की गोद में मर रहा चीथड़ा हो चुका विन्सेंट वॉन गॉग। इन्हीं दिनों मैंने विन्सेंट को समर्पित डॉन मैक्लीन का गाया गीत 'स्टारी नाइट' सुना जिसके बोल कुछ इस तरह हैं :

...Now I understand what you tried to say to me
How you suffered for your sanity
How you tried to set them free
They would not listen, they did not know how
Perhaps they will listen now...

'लस्ट फॉर लाइफ' को हिन्दी में अनूदित करने का विचार पहले कभी इसलिए नहीं आया था कि मुझे पक्का यकीन था किसी-न-किसी ने यह कार्य कर ही दिया होगा। हो सकता है किया भी हो पर मेरे किसी भी परिचित को इस बारे में अधिक जानकारी न थी। 2001-2002 की अपनी वियेना यात्रा के दौरान मुझे वहाँ के लियोपॉल्ड म्यूजियम में उन दिनों विशेष रूप से प्रदर्शित की जा रही विन्सेंट वॉन गॉग के चित्रों की प्रदर्शनी देखने का सुअवसर मिला।

खासतौर पर 'स्टारी नाइट' शृंखला की तीन-चार पेटिंग्स देखने के अनुभव को याद करते हुए अब भी झुरझुरी-सी उठती है। कागज पर या फिल्म में देखी हुई उसकी पेन्टिंग्स को सामने देखने का अनुभव पहले तो चमत्कृत करता है। पर काफी देर तक उन्हें देखने के बाद आपको इस अजीम कलाकार के जीवन के सारे पड़ाव याद आते हैं—द हेग, लन्दन, बोरीनाज की कोयला खदानें, जुन्डर्ट, उसके माँ-बाप, थियो, पेरिस, तुलूस, लौत्रेक, पॉल गोगां, आर्लेस और सेन्ट रेमी का वह जंगल जहाँ आखिरकार उसने अपने सीने में गोली मार ली थी।

इतना सुन्दर आदमी और ऐसे अकल्पनीय दर्द और संघर्ष से भरा उसका जीवन जिसमें वह किसी स्त्री से सच्चा प्रेम नहीं पा सका। सम्भवतः म्यूजियम की वह दोपहर 'लस्ट फॉर लाइफ' के त्वरित अनुवाद का जरिया बनी। मैंने तय कर लिया था कि भारत लौटते ही इस कार्य को अंजाम दे दिया जाना है।

चारेक सौ पन्नों की किसी प्रिय किताब के अनुवाद का जिम्मा उठाने का मतलब था कि यदि अनुशासन के साथ काम न किया गया तो किताब कुछ साल भी ले सकती थी या शायद अधूरी रह जानी थी। चूँकि यह कार्य मैं अपनी मर्जी से विन्सेंट वॉन गॉग के प्रति अपने आदर के कारण कर रहा था सो किसी प्रकाशक वगैरह की माँगों या घुड़कियों का भय नहीं होने वाला था।

अनुवाद प्रारम्भ करना शुरू करने वाले दिन की स्मृति अब भी बिल्कुल ताजा है। मैं एक हताश मनःस्थिति में नैनीताल से हल्द्वानी आ रहा था। नैनीताल से करीब सात-आठ किलोमीटर आगे नैनागाँव नाम की एक जगह पड़ती है। छोटा-सा गाँव है और गाँव के बगल में एक हरी पहाड़ी है। इस पहाड़ी पर पेड़ बहुत कम हैं लेकिन उस पर उगी रहने वाली सदाबहार हरी घास साल भर में पता नहीं कितने रंग बदला करती है। मैं कई सालों से उस पहाड़ी के सम्मोहन से बँधा हुआ था। अब तो वह मेरे लिए और भी ज्यादा जरूरी हो गई है। मेरे साथ एक मित्र भी था। हमने मोटरसाइकिल रोकी और पता नहीं किस आवेश में मैंने अपने मित्र से कहा कि मैं पहाड़ी पर चढ़ने जा रहा हूँ। मित्र की समझ में ज्यादा नहीं आया पर उसने भी साथ चढ़ने की इच्छा जताई, काफी तीखी चढ़ाई के बाद हल्का-सा ढाल था और फिर एक छोटा-सा मैदान। तीनेक बच्चे अपने खेलकूद में लगे हुए थे। एक औरत गेहूँ के एक ढेर को साफ कर रही थी। एक आदमी बन्दगोभियों से लदी एक टोकरी लेकर उसी पहाड़ी पर उतर रहा था, मैं काफी देर तक इस पूरे दृश्य को देखता रहा। दो बजे तक हम हल्द्वानी पहुँच गए। हम दोनों में इस बारे में आज तक कभी कोई वार्तालाप नहीं हुआ।

मुझे याद है मई का महीना था और

मरम्मत के वास्ते आधे घर का फर्श उखड़ा हुआ था। फर्श खुदे कमरों का सामान बाकी कमरों में ठूँस दिया गया था। खूब गर्मी पड़ रही थी और पत्थर की घिसाई की कर्कश आवाज से घर भरा हुआ था। करीब आधे घंटे में इस पागलपन के बीच मैंने 'लस्ट फॉर लाइफ' खोज निकाली। किसी एक कमरे में लिखने-बैठने की जगह बनाई और आधी रात के बाद तक उसका अनुवाद करता रहा। उसके बाद अगले दिन से मैंने अपने ऊपर यह नियम लागू किया कि ठेकेदार-मजदूरों को सुबह ही सारी जरूरी हिदायत देने के बाद पिछले दिन से ज्यादा काम करके ही सोना है। तब मुझे कम्प्यूटर पर लिखना नहीं आता था। जाहिर है उँगलियाँ टूट जाया करती थीं पर एक पागलपन-सा सवार रहता था। मुझे अब तक नहीं पता क्या कैसे होता गया पर पूरी किताब के अनुवाद का पूरा पहला ड्रॉफ्ट उसी कोने में उन्नीस दिन में पूरा हुआ।

काम पूरा करके मैं वापस उसी पहाड़ी पर गया। न बच्चे खेल रहे थे, न कोई स्त्री गेहूँ साफ कर रही थी, न कोई आदमी बन्दगोभियों की टोकरी लादे चढ़-उतर रहा था। बहुत देर तक बैठा रहा। हरा रंग ज्यादा समझ में आ रहा था और लग रहा था दिल से टनों बोझा उतर गया।

फिर वह पांडुलिपि महीनों तक वैसी ही वैसी धरी रही। उसे एक बार और ठीक करने की प्रक्रिया चल ही रही थी कि संवाद प्रकाशन के आलोक श्रीवास्तव ने विश्व साहित्य के अनुवाद की अपनी योजना के लिए उसे माँगा और कुछ महीनों बाद वह किताब विन्सेंट के सेल्ट पोर्ट्रेट के क्लोजअप वाले आवरण के साथ दिल्ली के विश्व पुस्तक मेले में पढ़ने वालों के लिए आ चुकी थी। अनीता वर्मा जी ने अपनी कविता 'वॉन गॉग के अन्तिम आत्मचित्र से बातचीत' को किताब में इस्तेमाल करने की अनुमति दे दी थी जिससे किताब और समृद्ध हुई। उसी कविता से अपनी बात पूरी कर रहा हूँ :

एक पुराने परिचित चेहरे पर
न टूटने की पुरानी चाह थी
आँखें बेधक तनी हुई नाक
छिपने की कोशिश करता था कटा हुआ कान
दूसरा कान सुनता था दुनिया की बेरहमी को
व्यापार की दुनिया में वह आदमी प्यार का इन्तजार करता था

मैंने जंगल की आग जैसी उसकी दाढ़ी को छुआ
उसे थोड़ा सा क्या नहीं किया जा सकता था काला
आँखें कुछ कोमल कुछ तरल
तनी हुई एक हरी नस ज़रा सा हिली जैसे कहती हो
जीवन के जलते अनुभवों के बारे में क्या जानती हो तुम
हम वहाँ चल कर नहीं जा सकते
वहाँ आँखों को चौंधियाता हुआ यथार्थ है और अन्धेरी हवा है
जन्म लेते हैं सच आत्मा अपने कपड़े उतारती है
और हम गिरते हैं वहीं बेदम

ये आँखें कितनी अलग हैं
इनकी चमक भीतर तक उतरती हुई कहती है
प्यार माँगना मूर्खता है
वह सिर्फ किया जा सकता है
भूख और दुख सिर्फ सहने के लिए हैं
मुझे याद आईं विन्सेन्ट वॉन गॉग की तस्वीरें
विन्सेन्ट नीले या लाल रंग में विन्सेन्ट बुखार में
विन्सेन्ट बिना सिगार या सिगार के साथ
विन्सेन्ट दुखों के बीच या हरी लपटों वाली आँखों के साथ
या उसका समुद्र का चेहरा

मैंने देखा उसके सोने का कमरा
वहाँ दो दरवाजे थे
एक से आता था जीवन
दूसरे से गुजरते निकल जाता था
वे दोनों कुर्सियाँ अन्ततः खाली रहीं
एक काली मुस्कान उसकी तितलियों गेहूँ के खेतों
तारों भरे आकाश फूलों और चिमनियों पर मँडराती थी
और एक भ्रम जैसी बेचैनी जो पूरी हो जाती थी और बनी रहती थी
जिसमें कुछ जोड़ा या घटाया नहीं जा सकता था

एक शान्त पागलपन तारों की तरह चमकता रहा कुछ देर
विन्सेन्ट बोला मेरा रास्ता आसान नहीं था
मैं चाहता था उसे जो गहराई और कठिनाई है
जो सचमुच प्यार है अपनी पवित्रता में
इसलिए मैंने खुद को अकेला किया
मुझे यातना देते रहे मेरे अपने रंग
इन लकीरों में अन्याय छिपे हैं
यह सब एक कठिन शान्ति तक पहुँचना था
पनचक्कियाँ मेरी कमजोरी रहीं
जरूरी है कि हवा उन्हें चलाती रहे
मैं गिड़गिड़ाना नहीं चाहता
आलू खाने वालों और शराब पीने वालों के लिए भी नहीं
मैंने उन्हें जीवन की तरह चाहा है

अलविदा मैंने हाथ मिलाया उससे
कहो कुछ कुछ हमारे लिए करो
कटे होंठों में भी मुस्कराते विन्सेन्ट बोला
समय तब भी तारों की तरह बिखरा हुआ था
इस नरक में भी नृत्य करती रही मेरी आत्मा
फ़सल काटने वाली मशीन की तरह
मैं काटता रहा दुख की फ़सल
आत्मा भी एक रंग है
एक प्रकाश भूरा नीला
और दुख उसे फैलाता जाता है।

लस्ट फॉर लाइफ (महान चित्रकार वॉन गॉग के जीवन पर आधारित उपन्यास)/ इरविंग स्टोन/ अनुवाद : अशोक पाण्डे/ संवाद प्रकाशन/ आई-499, शास्त्री नगर, मेरठ-250004 (उ.प्र.) मूल्य-175 रु. (पेपरबैक)

डी-35, जज फार्म, हल्द्वानी जिला-नैनीताल-263139 (उत्तराखंड)

विरासत - एक

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

विरासत

जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'

31 जुलाई को प्रेमचन्द की जयंती के अवसर पर पत्रिका के इस अंक में विशेष सामग्री दी जा रही है। पं. जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' द्वारा प्रेमचन्द पर लिखित पहली आलोचना पुस्तक 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला' वाणी मन्दिर, छपरा (बिहार) से दिसम्बर, 1933 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का मूल्य था डेढ़ रुपया और प्रथम संस्करण डेढ़ हजार प्रतियों का था। उस पुस्तक से हम यहाँ उसका आरम्भिक अंश 'विषय प्रवेश' साभार उद्धृत कर रहे हैं। प्रेमचन्द पर दूसरी आलोचना पुस्तक 'प्रेमचन्द' शीर्षक से 1941 ई. में प्रकाशित हुई जिसके लेखक थे डॉ. रामविलास शर्मा। लेकिन उन्हें तब द्विज जी वाली पुस्तक की जानकारी नहीं थी। अपनी भूल का परिमार्जन उन्होंने 53 वर्षों बाद 1994 ई. में राधाकृष्ण से प्रकाशित पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका में किया। इन दोनों लेखों से प्रेमचन्द के आरम्भिक और बाद के मूल्यांकन का अनुमान हम सहजता से लगा सकते हैं।

संपादक

विषय-प्रवेश

कथा साहित्य का उद्‌भव

हम केवल अपने आपको ही अभिव्यक्त करके सन्तुष्ट नहीं हो जाते, औरों के जीवन की बाहरी तथा भीतरी स्थिति का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। हमारी जो मनोवृत्ति हमें मानव-व्यापार की इस अनुरक्ति-सीमा से बाहर नहीं निकलने देती, और दूसरों के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ सुनने, जानने, समझने तथा कहने के लिए उत्सुक बनाए रहती है, उसी की प्रेरणा का परिणाम है कथा-साहित्य।

इसके प्रति मानव जाति का पुराना प्रेम

जीवन स्वयं एक कहानी है। इसी कारण जीवन के घटना-चक्र में नैसर्गिक अभिरुचि रखनेवाली मानव-जाति, आदि काल से ही, कथा-साहित्य को प्यारपूर्वक अपनाती चली आ रही है। विश्व की प्रायः समस्त प्राचीन भाषाओं में इसके प्रारम्भिक रूप का अस्तित्व बोध कराने वाली बातें विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो भाषा की उपलब्धि के साथ ही मनुष्य में कथा-प्रेम का भी प्रादुर्भाव हो गया, भावाभिव्यक्ति की साधन-सुविधा पाते ही लोग 'कुछ कहने' तथा 'कुछ सुनने' का काम तो करने ही लगे, 'कुछ गढ़ने' की ओर भी उनकी प्रवृत्ति चल पड़ी

प्राचीनकाल में इसका महत्त्व और उपयोग

हमारे यहाँ के ऋग्वेद, ब्राह्मणों, उपनिषदों, बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य तथा नीति-ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले अन्यान्य ग्रन्थों में कथा-साहित्य के प्रारम्भिक स्वरूप का अवलोकन कर यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि उन दिनों गम्भीर-से-गम्भीर विषय को समझाने तथा लोक-ग्राह्य बनाने का सबसे अच्छा और प्रभावशाली साधन यही समझा जाता था। कहानी-कला का आश्रय लेकर चलने में लोग, स्वभावतः, एक प्रकार की सुगमता का अनुभव करते थे, कर्तव्य-चेष्टा को क्रान्ति से बचाए रखने की सुविधा पाते थे। जीवन-व्यापार की प्रत्येक दिशा में इस कला का स्वच्छन्द प्रवेश था, जीवन-प्रवाह की एक-एक गति पर इसका प्रेमपूर्ण नियन्त्रण था। इसका काम केवल हँसाना, सुलाना, मनोरंजन करना तथा उपदेश देना ही नहीं था; समाजनीति, धर्मनीति, राजनीति, दर्शन और साधारण शिष्टाचार से सम्बन्ध रखने वाली छोटी-मोटी बातों पर भी इसी के द्वारा प्रभाव डालने की चेष्टा की जाती थी। बड़े-बड़े ज्ञानोपासकों तथा धर्मोपदेशकों ने इसी की सहायता से अपने कर्म-पथ को सुगम बनाया, उद्देश्य-सिद्धि के प्रयत्न में सफलता प्राप्त की।

इसके विस्तार के कारण

सामाजिक तथा कलात्मक स्थिति के परिवर्तन-चक्र द्वारा परिचालित, मानव-प्रवृत्ति,

जैसे-जैसे अपनी प्रेरणा को प्रगतिशील बनाती जाती है वैसे-ही-वैसे उसमें उद्‌भावना-शक्ति का विकास होता जाता है और उसी के फल-स्वरूप होता है कथा-साहित्य के वैभव का विस्तार।

हिन्दी कथा-साहित्य का विकासक्रम

हिन्दी के क्षेत्र में इस प्रकार की प्रेरणा और उद्‌भावना-शक्ति का प्रथम साक्षात्कार हमें 'रानी केतकी की कहानी' ने कराया। हमारे कथा-साहित्य के इतिहास में न तो इसके पहले किसी प्रकार के उल्लेखनीय महत्त्व का आगमन हुआ था, न कुछ दिनों तक इसके पीछे ही हुआ—बस, संस्कृत साहित्य से ली हुई पौराणिक तथा धार्मिक कथाओं की ही प्रधानता रही। हाँ, इसके बाद भारतेन्दु-काल में आकर इसकी विकास-धारा नए वेग से चली—और खूब चली। किन्तु, उस 'वेग' में भी बाहर से ही कुछ खींच लाने की शक्ति प्रबल दीख पड़ी—भीतर से कुछ निकालकर ले चलने की नहीं। लाला श्रीनिवास दास-कृत 'परीक्षागुरु', बाबू राधाकृष्ण दास के 'निस्सहाय हिन्दू' और पं. बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' नामक उपन्यासों के अतिरिक्त और जितने भी उपन्यास निकले वे प्रायः सबके सब अनुवाद ही थे। सारांश यह कि उस युग ने हमारे कथा-साहित्य में सम्पन्नता लाने की चेष्टा तो की परन्तु मौलिकता के अभाव को वह दूर न कर सका।

'सरस्वती' द्वारा मौलिकता की अभिवृद्धि

मौलिकता के अभाव को कथा-साहित्य की सीमा से बाहर निकालने का प्रयत्न तब किया जाने लगा जब 'सरस्वती' का प्रादुर्भाव हुआ। इसके आते ही हिन्दी का गौरव-मन्दिर उद्भासित हो उठा। इसकी अनुपम शक्ति का आशीर्वाद पाकर हिन्दी-साहित्य ने अपने दुर्बल अंगों को परिपुष्ट करना आरम्भ किया। आज जो हम अपने कथा-साहित्य को इतनी उन्नत अवस्था में देख रहे हैं उसका बहुत कुछ श्रेय इसी पत्रिका को दिया जाना चाहिए। इसमें पहले-पहल लाला पार्वतीनन्दन, श्रीमती 'बंगमहिला' तथा पं. किशोरीलाल गोस्वामी आदि की सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ छपने लगीं

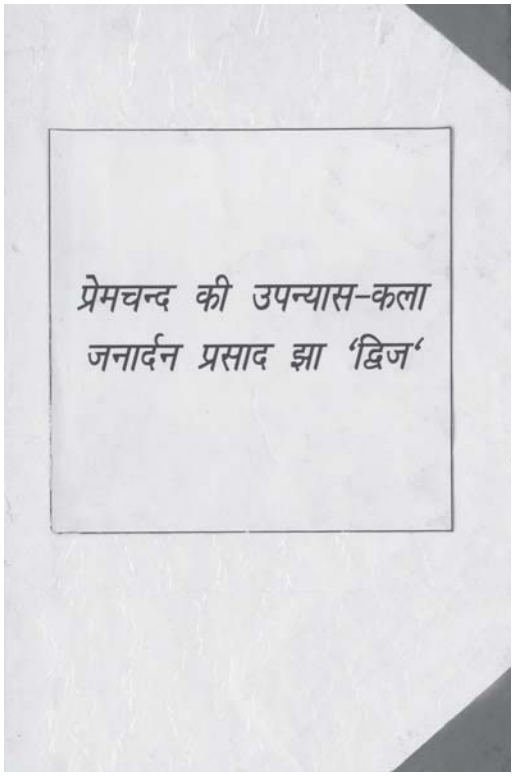

और उन्हें पढ़-पढ़कर लोगों का अनुराग कथा-साहित्य के प्रति बड़े वेग से बढ़ने लगा। फिर भी, वह हिन्दी की मौलिक कहानियों का प्रारम्भिक युग था और उसमें भी कुछ दिनों तक अनुवाद की ही प्रधानता रही।

'इन्दु' द्वारा मौलिकता की अभिवृद्धि

आधुनिक काल की मौलिक-कहानियों के विकास में काशी के 'इन्दु' का भी बहुत बड़ा हाथ रहा। मौलिकता की प्रतिमूर्ति बाबू जयशंकर 'प्रसाद' की 'ग्राम' नामक पहली कहानी उसी में छपी थी और पं. विश्वम्भरनाथ 'जिज्जा' की विख्यात कहानी 'परदेसी' को भी प्रकाश में लाने का गौरव उसी को प्राप्त हुआ था। उसमें बराबर अच्छी-अच्छी मौलिक कहानियाँ निकलती रहीं और उनके द्वारा हिन्दी के गौरव की अभिवृद्धि होती रही।

मौलिक कहानी-लेखक

इसी तरह, धीरे-धीरे, हिन्दी की कहानियों में मौलिकता के वैभव बढ़ने लगे। 'सरस्वती', 'इन्दु' और 'गृहलक्ष्मी' आदि में नई-नई कहानियाँ निकलने लगीं। प्रसादजी, जिज्जाजी, राजा राधिका रमण सिंह, पं. विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं. ज्वालादत्त शर्मा तथा श्री चतुरसेन शास्त्री प्रभृति प्रतिभाशाली लेखकों की रचनाएँ हिन्दी के पाठकों के लिए अभिनव आशा और अपूर्व उल्लास ले आईं।

मौलिक उपन्यास-लेखक

यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जिस समय आधुनिक काल की मौलिक कहानियों का विकास हो रहा था उस समय तक हिन्दी में कुछ मौलिक उपन्यास भी आ गए थे। सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास- लेखक बाबू देवकीनन्दन खत्री की रचनाएँ बहुत पहले से ही ख्याति पाए चली आ रही थीं। यद्यपि उनके उपन्यासों में घटना वैचित्र्य के अतिरिक्त और कोई भी साहित्यिक तत्त्व नहीं हैं फिर भी उनका एक निजी महत्त्व है। उनकी 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' ने हिन्दी का बहुत बड़ा उपकार किया है।

उपन्यासों का पर्वत खड़ा करने वाले दूसरे मौलिक उपन्यास-लेखक थे पं. किशोरीलाल गोस्वामी। उनकी रचनाओं में साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव नहीं है। किन्तु वह सौन्दर्य कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक चटकीला और कुप्रभावोत्पादक हो गया है। उनकी रस-संचार की प्रणाली कुछ-कुछ असात्विक भावों और दृश्यों को भी अपने साथ रखती हुई सी दीख पड़ती है। फिर भी, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने, मौलिकता के नाते, हिन्दी के इस क्षेत्र में बड़ी मुस्तैदी से काम लिया और उनमें उपन्यासकार होने की सच्ची क्षमता थी। यह दूसरी बात है कि उस क्षमता को वे बहुत अच्छे ढंग से, बहुत अच्छी रुचि के साथ, काम में न ला सके।

मौलिक उपन्यास तो दो 'हरिऔध' जी ने भी लिखे—'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल'—पर, केवल भाषा का नमूना दिखाने के लिए, उपन्यास-कला की दृष्टि से नहीं।

इसी तरह मेहता लज्जरामजी ने भी 'धूर्त रसिक लाल', 'आदर्श दम्पति', 'आदर्श हिन्दू' आदि छोटे-बड़े उपन्यास लिखे। किन्तु, उनमें भी औपन्यासिक होने की क्षमता प्रायः नहीं ही के बराबर थी।

हाँ, भाव-प्रधान शुद्ध साहित्यिक उपन्यास प्रस्तुत करने का श्रेय बाबू ब्रजनन्दन सहाय को अवश्य मिलना चाहिए। इनके 'लालचीन',

'सौन्दर्योपासक' तथा 'राधाकान्त' नामक उपन्यास बहुत ही अच्छे हैं।

प्रेमचन्द का उदय और कथा-साहित्य में युगान्तर

इन मौलिक उपन्यासों तथा नए ढंग की मौलिक कहानियों ने मौलिकता का मार्ग प्रशस्त अवश्य बना दिया पर अभी तक वह जैसे सूना-सा मालूम पड़ता था। अपनी अलौकिक प्रतिभा का तेज बरसाते हुए, पूरी सजधज के साथ, उस मार्ग पर सम्राट की तरह चलने वाले 'प्रेमचन्द' जी अभी तक हिन्दी के क्षेत्र में नहीं आए थे। इनकी कला अभी तक उर्दू-साहित्य की ही उज्ज्वलता बढ़ा रही थी, उसी को गौरव-ज्योति प्रदान कर रही थी। हमारे साहित्याकाश में इनका प्रथम उदय तो सन् 1905 ई. में ही समझा जाना चाहिए, जब प्रयोग के इंडियन प्रेस से इनकी 'प्रेमा' निकली थी। पर वह इनका प्रकाश न फैला सकी और, सन् 1916 ई. तक, एक तरह से ये कुहरे में ही ढके रहे। हाँ, उसके बाद जब 'सरस्वती' और 'लक्ष्मी' में इनकी कहानियाँ निकलने लगीं तब लोगों ने अनुभव करना आरम्भ किया कि हिन्दी के कथा-साहित्य में शीघ्र ही युगान्तर उपस्थित होने वाला है। वही हुआ भी। छोटी-छोटी कहानियों के साथ-साथ ये उपन्यास-रचना में भी प्रवृत्त हुए और इनकी सुन्दर-सुन्दर कृतियों से हिन्दी का उल्लासमय गौरव बढ़ने लगा।

'प्रेमा' और 'सेवासदन'

उपन्यास के नाम से हिन्दी को इन्होंने जो पहली चीज दी वह थी वही सन् 1905 ई. वाली 'प्रेमा'—जो इनके उर्दू 'हम खुरमा व हम सबाव' का अनुवाद है। पर उस छोटी-सी '-जेबी किताब' को कहानी कहना ही ठीक जँचता है। उसमें एक विधवा-विवाह कराने के अतिरिक्त औपन्यासिक के नाते प्रेमचन्दजी ने और कुछ किया भी नहीं है, इसी से लोग उसे उतना जानते भी नहीं। किन्तु, उसके बाद आए हुए—हमारे कथा-साहित्य का कायापलट करने वाले—इनके 'सेवासदन' नामक उपन्यास ने हिन्दी-संसार को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। लोगों ने उसे बड़े प्यार और आदर से अपनाया। इसी तरह अपनाई जाने योग्य वस्तु वह थी भी। समाज की रूढ़िग्रस्त दुर्बलताओं

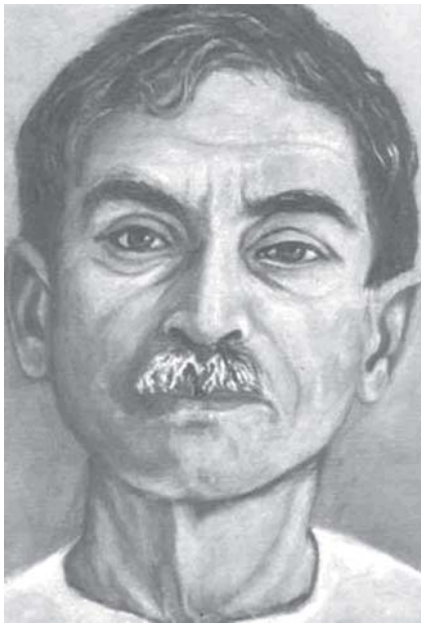

तथा दुरवस्थाओं के जो मार्मिक चित्र उसमें खींचे गए हैं वे अत्यन्त कोमल और करुण हैं। उस उपन्यास के कलात्मक सौन्दर्य पर लोग इतना अधिक रीझ गए कि उन्हें आशंका होने लगी कि स्वयं प्रेमचन्दजी भी अब इससे अच्छा उपन्यास शायद न लिख सकें।

'वरदान'

लोगों की यह धारणा और भी दृढ़ हो गई जब उसके बाद ही इन्होंने हिन्दी-जगत को एक छोटा-सा 'वरदान' दिया। यद्यपि यह छोटा-सा उपन्यास भी कला की दृष्टि से कुछ कम उत्कृष्ट नहीं है तो भी इसमें 'सेवासदन' के रचयिता को उन्मुक्त प्रतिभा का विस्तार नहीं दीख पड़ता। इसका कारण यह है कि इसकी भी रचना 'सेवासदन' से बहुत पहले ही हो चुकी थी, यद्यपि हिन्दी में आया यह उसके पीछे। 'सेवासदन' के पहले ही उर्दू में इन्होंने एक बहुत बड़ा परिहास-प्रधान उपन्यास लिखा था—जो कहीं छप न सका और अब जिसकी पांडुलिपि का भी पता नहीं है। उसी की मूल कथावस्तु लेकर इन्होंने इस उपन्यास की रचना की। इसमें इनकी रचना-शैली का सौन्दर्य उतना निखरा हुआ नहीं है—हो भी नहीं सकता था। कर्तव्य की कठोर साधना में निरत रहनेवाले पुरुषत्व की प्रेमार्द्रता, अभाव से भरे हुए नारी-हृदय की उद्दीप्त वेदना के साथ मिलकर, क्या-क्या करुण क्रीड़ाएँ करती हैं, इसी का सजीव चित्रण इस पुस्तक का जीवन है। इसके अतिरिक्त, पारिवारिक और सामाजिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली, कितनी ही ऐसी बातें इसमें आ गई हैं जो किसी भी कृति की शोभा कही जा सकती हैं।

'प्रेमाश्रम'

इसके बाद ही लोगों ने 'प्रेमाश्रम' का दर्शन किया। आशंका जाती रही, आशा ने नए रूप में अपनी झलक दिखाई। कृषक-जीवन की दयनीय दशाओं तथा मानवीय प्रवृत्तियों का मार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने वाला यह उपन्यास भी देखते ही देखते लोक-प्रिय बन बैठा। किसानों और जमींदारों के अधिकार-युद्ध की इस करुण कथा के कलात्मक रूप पर भी लोग खूब रीझे।

'रंगभूमि'

इसके अनन्तर 'रंगभूमि' आई। जीवन-संग्राम में, सत्याग्रह-द्वारा, दिव्य विजय प्रदान करानेवाली निष्काम कर्म-भावना तथा सुदृढ़ आत्म-निष्ठा का महत्त्व प्रदर्शित करने वाले इस उपन्यास ने भी मानव-स्वभाव के जटिल रहस्यों की अत्यन्त हृदयग्राही और मनोरंजक व्याख्या की। इसकी लोकप्रियता से भी एक बार फिर वही आशंका जीवित हो उठी कि ऐसा अच्छा उपन्यास अब प्रेमचन्दजी की लेखनी से शायद ही निकल सके।

'कायाकल्प'

इतने ही में 'कायाकल्प' ने इनकी प्रतिभा को एक नए ही रूप में अभिव्यक्त कर दिखाया। इसके सम्बन्ध में, कम-से-कम, इतना तो, अवश्य कहा जा सकता है कि जीवन-व्यापार की मार्मिकता के नाते, तथा मनोवैज्ञानिक स्थिति की विश्लेषण-कला की दृष्टि से, यह 'रंगभूमि' से भी बढ़कर है। किन्तु, इसमें कथा-तत्त्व की अवहेलना करने वाली जिस अलौकिकता को प्राधान्य दिया गया है—जन्म-जन्मान्तर की भूखी आकांक्षाओं तथा प्यासी लालसाओं का परिणाम प्रत्यक्ष करने के लिए, जिस अपार्थिव और अविश्वसनीय वातावरण की सृष्टि की गई है—उसके ऊपर, हृदय चाहे रम जाए, विश्वास नहीं जमता। जिस 'कला' पर भाव और बुद्धि की समान आस्था हो वही सब प्रकार से 'पूर्ण' समझी

जानी चाहिए। इसमें पाठकों की इस समन्वित आस्था को टिका रखने की क्षमता का अभाव-सा है। तो भी, अपना एक भिन्न अस्तित्व रखने वाला यह आकर्षक उपन्यास बहुत ही सुन्दर है। इसके द्वारा सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर तो मनोरंजक प्रकाश डाला ही गया है, आध्यात्मिक रहस्यों की उद्भावना भी इसमें बड़ी सुन्दरता से की गई है।

'निर्मला'

'कायाकल्प' के बाद ही 'निर्मला' निकली। इसमें उस अवांछित विधुर-विवाह के दुष्परिणाम दिखलाए गए हैं जो, पहली स्त्री से प्राप्त सन्तति से रहते हुए भी, जरावस्था में, केवल वासना-तृप्ति के उद्देश्य से किया जाता है और जो हमारे समाज की निर्दोष बालिकाओं के लिए सबसे बड़ा दाहक अभिशाप है। 'सेवासदन' की तरह यह उपन्यास भी कोमल और करुण भावनाओं से भरा हुआ है। किन्तु, घटना-क्षेत्र के संकोच से, यह उसकी समता नहीं कर सकता।

'प्रतिज्ञा'

अब 'प्रतिज्ञा' की बारी आई। यह भी, 'निर्मला' की तरह, एक छोटा-सा सुन्दर सामाजिक उपन्यास है। प्रेम-साधना में संलग्न रहकर भी हृदय कर्तव्य-भावना के आग्रह का किस प्रकार पालन कर सकता है, जीवन को सेवा और त्याग का आधार बनाकर, उसे 'उत्सर्ग' के रूप में बदलकर, प्रेम के किस मंगलमय रूप का विधान किया जा सकता है, यही इसमें दिखलाया गया है। इसे 'प्रेमा' का ही परिवर्द्धित और परिष्कृत रूप समझना चाहिए।

ग़बन

इन छोटे-छोटे उपन्यासों के अनन्तर फिर बड़े उपन्यासों की बारी आई और 'ग़बन' निकला। इसने हमें बताया कि मनुष्य के जीवन की परिस्थिति, उसकी एक-एक बात का, उसके एक-एक विचार और कार्य का, हिसाब रखने वाली है। इस हिसाब में, उससे कहीं किसी प्रकार की भूल हुई और वह बिगड़ी! एक छोटी-सी दुर्बलता के कारण मनुष्य को कहाँ-से-कहाँ चला जाना पड़ता है, क्या-से-क्या हो जाना पड़ता है, इसी का घटना-चित्र इसमें अंकित है। 'प्रेमा' के पहले ही, छोटा-सा एक और उपन्यास भी प्रेमचन्दजी ने उर्दू में लिखा था, जिसका नाम था 'कृष्ण'। उसी के आधार पर, नए ढंग से, इस उपन्यास की कथा-वस्तु का विधान किया गया है। स्त्रियों के अत्यधिक आभूषण-प्रेम तथा पुरुषों की मिथ्या वैभव-प्रदर्शन की कुप्रवृत्ति के संयोग से जिस अनर्थकारी परिणाम की सृष्टि होती है उसकी कथा बड़े मार्मिक ढंग से इसमें कही गई है।

'कर्मभूमि'

इसके उपरान्त अब 'कर्मभूमि' आई है। हमारे राष्ट्र के निर्माण-कार्य में दलितों, गरीब किसानों और मजदूरों की दुरवस्था के सुधार का प्रश्न कितना महत्त्वपूर्ण है और इस प्रश्न की जटिलता दूर करने के लिए हमें क्या-क्या करना चाहिए, यही इसमें बतलाया गया है। इसका पहला आधा हिस्सा तो बहुत ही सुन्दर है, किन्तु दूसरे आधे हिस्से में कथा की रुचि और उत्सुकता बढ़ाने वाली क्षमता कुछ दब-सी गई है; और, ऐसा मालूम पड़ता है जैसे बहुत-सी बातें 'रंगभूमि' से ही उधार ले ली गई हैं।

सम्भावना

कौन कह सकता है, अभी ये और कितना लिखेंगे! यही कैसे कह दिया जाए कि सैंकड़ों कहानियों तथा इतने उपन्यासों की सृष्टि करनेवाली इनकी अद्‌भुत कल्पना-शक्ति अभी आगे चलकर 'कला' के किस रूप का विधान करेगी? इसलिए, इनके सम्बन्ध में अभी किसी प्रकार के 'अन्तिम निर्णय' की, घोषणा तो क्या, अवधारणा भी नहीं की जा सकती। हाँ, इनकी अब तक की रचनाओं पर समीक्षा की एक दृष्टि अवश्य दौड़ाई जा सकती है, स्वतन्त्र बुद्धि से उन पर कुछ विचार अवश्य किया जा सकता है।

इस पुस्तक का उद्देश्य

इस पुस्तक का भी उद्देश्य यही है। इसमें केवल इनके अब तक के उपन्यासों की ही चर्चा रहेगी; अगले प्रकरणों में हम केवल इनकी उपन्यास-कला के ही तत्त्वों का विश्लेषण करेंगे।

(प्रेमचन्द की उपन्यास-कला; जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', 1933 से साभार)

प्रेमचन्द : विरासत : डॉ. रामविलास शर्मा

दूसरे संस्करण की भूमिका
प्रेमचंद पर पहली प्रगतिशील आलोचना पुस्तक

जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की पुस्तक 'प्रेमचन्द की उपन्यास कला' दिसम्बर 1933 में वाणी मन्दिर, छपरा से प्रकाशित हुई थी। कई दृष्टियों से यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है। सामयिक समस्याओं का चित्रण करने वाला साहित्य स्थायी नहीं होता, इस धारणा का उल्लेख करते हुए झा ने उस पर सीधा प्रहार किया है। उनकी घोषणा है : ''अपने समय का सच्चा चित्र खींचे बिना कोई भी कलाकार अपनी कला के द्वारा लोकधर्म का पालन नहीं कर सकता।'' और उन्होंने प्रश्न किया है : ''संसार में आज तक कोई ऐसा भी कलाकार हुआ है जिसने अपनी रचनाओं को अपने समय का सच्चा प्रतिनिधित्व न सौंप दिया हो?'' स्वभावतः वह देश-विदेश के अन्य कथाकारों से उनकी तुलना करते हैं। यह तुलना अब तो सामान्य हो गई है परन्तु 'हिन्दी में क्या है?' के उस युग में यह साहस का काम था। प्रसाद, कौशिक, वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र आदि के बाद रवीन्द्रनाथ, गोर्की आदि से तुलना करने के पहले उन्होंने एक बड़े मार्के की बात कही है : ''इस युग का कोई भी प्रश्न अब एक राष्ट्रीय—नहीं रह गया है—प्रत्येक प्रश्न के साथ किसी-न-किसी प्रकार का अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व लगा रहता है। प्रेमचन्द जी के उपन्यास भारत की उन गम्भीर समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं जिनका सम्बन्ध एक मात्र भारत के ही हितों से नहीं, सारे संसार के हितों से है।'' (177) राष्ट्र की समस्याओं को अंतरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए, इसी धारणा के अनुरूप वह प्रेमचन्द के उपन्यासों को भारतीय और विश्य साहित्य के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं।

झा के विचार से रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द दोनों ''लोकोपयोगी कलाकार'' हैं (178); रवीन्द्रनाथ में भावुकता अधिक है, प्रेमचन्द में विविधता अधिक है। शरच्चन्द्र में ''कोमलता'' है, ''हृदय संग्राम'' है, प्रेमचन्द में ''ओजस्विता'' है, ''जीवन-संग्राम'' है (181)। हार्डी के उपन्यासों में ग्रामीण जीवन के सुन्दर चित्र हैं, प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन है, परन्तु उनमें ''निराशावाद की मात्रा अधिक पाई जाती है।'' (184) अभिजात साहित्य और जनसाहित्य का भेद गाल्सवर्दी और प्रेमचन्द की तुलना में बहुत स्पष्ट हुआ है : ''प्रेमचन्द जी जहाँ जीवन की साधारण आवश्यकताओं के अभाव में तड़पते हुए, अन्न-वस्त्र के दुख से दुखी, दीन-हीन प्राणियों की व्यथा का मार्मिक विश्लेषण करते हैं, वहाँ 'गाल्सवर्दी' की कला का प्रवेश कम है। वे तो अधिकतर, असाधारण वर्ग के, असाधारण प्राणियों की, असाधारण वेदना के ही विश्लेषक से जान पड़ते हैं—साधारण मनुष्यों के, दीन-हीन प्राणियों के, अभाव-कष्ट की कथा उनकी उपन्यास कला के लिए कोई विशेष आकर्षण नहीं रखती दीख पड़ती।'' (187) कुछ नाटकों में गाल्सवर्दी ने ''साधारण वर्ग के लोगों के सुख-दुख के सम्बन्ध रखने वाली'' सामयिक समस्याओं पर भी लिखा है; इन पर ''प्रकाश डालना ही प्रेमचन्द जी की उपन्यास कला का प्रधान काम होता है।'' (185)

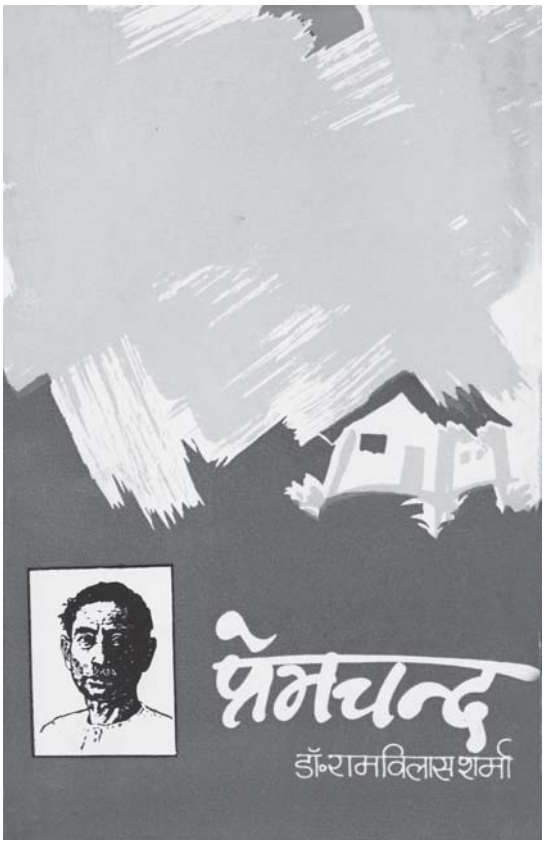

अभिजात और साधारण का यह भेद हमारे सांस्कृतिक इतिहास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे पता चलता है कि संगठित प्रयास के बिना सन् 30-31 के आन्दोलन की विफलता के बाद, हिन्दी आलोचना में प्रगतिशील रुझान अपने आप उभर रहे थे। प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य द्वारा इस दिशा में पहल की थी। झा ने प्रेमचन्द की तुलना गोर्की से भी की है। यह तुलना बहुत दिलचस्प है और उसे विस्तार से उद्धृत करना आवश्यक है। कहते हैं :

''रूसी भाषा के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार 'मैक्सिम गोर्की' अपनी

रचनाओं में अपने देश की स्थिति का चित्रण उसी तरह करते हैं जिस तरह प्रेमचन्द जी। 'गोर्की' वर्तमान रूस की सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के सबसे बड़े विश्लेषक हैं और प्रेमचन्द जी आधुनिक भारत की सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं के। गोर्की के 'मदर' (माँ) नामक उपन्यास की समस्याओं के स्वरूप में बड़ी समता है। 'डिकन्स' की तरह 'गोर्की' की रचनाओं में भी चोरों, डाकुओं, पियक्कड़ों आदि के बड़े आकर्षक चरित्र-चित्र देखने को मिलते हैं। वस्तुतः समाज के दीन-हीन लांछित और बहिष्कृत लोगों के आभ्यांतरिक जीवन की व्याख्या करने में ये कमाल करते हैं। 'कर्मभूमि' के 'काले खाँ'–जैसे दो-एक इसी वर्ग के पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रेमचन्द जी ने भी अपनी रचनाओं में किया है, किन्तु ऐसा करते समय इन्होंने मार्मिकता से उतना काम नहीं लिया है जितना दार्शनिकता से। उन्हें हम अधमता के पैरों तले लोटते देखते हैं और मनुष्य की तरह नहीं मानते, उनकी छिपी हुई मनुष्यता के मार्मिक उपकरणों का उद्घाटन और विश्लेषण करना 'गोर्की' की कला का उद्देश्य रहता है किन्तु प्रेमचन्द जी की कला का उद्देश्य रहता है उन्हें बाहरी नैतिक दृष्टान्तों द्वारा मनुष्यता के आदर्श रूप का बोध कराना।'' (185-86)

झा आदर्शवाद के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं, प्रेमचन्द भी उससे पूरी तरह मुक्त नहीं थे। किन्तु जैसे प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में यथार्थवाद की धारा ही अधिक शक्तिशाली है, वैसे ही झा की आलोचना में प्रगतिशील विचारधारा प्रधान है। उनकी पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय 'देशकाल का प्रतिबिम्ब' है। इसका सूत्रवाक्य यह है : ''हमारे समाज में जितने प्रकार के लोग रहते हैं उन सबके आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन तथा उनकी जीवन-स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली अन्यान्य छोटी-मोटी बातों का सर्वांग सुन्दर वर्णन उपस्थित करके, हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को संचालित करने वाली भिन्न-भिन्न संस्थाओं तथा उनकी कार्य-प्रणालियों की वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन करा के, अपने पाठकों के देश-काल सम्बन्धी सच्चे ज्ञान की सीमा के भीतर ले आना इनके उपन्यासों का एक आवश्यक कार्य होता है।'' (113) समाज में जितने प्रकार के लोग रहते हैं–उन प्रकारों के आधार बनाकर प्रेमचन्द-साहित्य का विश्लेषण किया जा सकता है, यह उद्भावना यहाँ विद्यमान है। झा ने विश्लेषण के लिए 'वस्तु-विन्यास', 'चरित्र-चित्रण', 'कथापेकथन का प्रयोग', 'भाषा शैली और भाव व्यंजना' और 'उद्देश्य-पालन' को आधार बनाया है। ये उनके अध्यायों के शीर्षक हैं। परन्तु हर अध्याय में लोगों के 'प्रकार' उनकी आँखों से ओझल नहीं होते। यही नहीं, वह इन प्रकारों के बीच जो टक्कर होती है, उस पर भी ध्यान देते हैं। **प्रेमाश्रम** को वह ''किसानों और जमींदारों के अधिकार-युद्ध'' की करुण कथा मानते हैं। (13) **कायाकल्प** में ''अपार्थिव और अविश्सनीय वातावरण की सृष्टि की गई है'' (14) फिर भी इसमें ''साम्प्रदायिक झगड़े तथा किसान-आन्दोलन से सम्बन्ध रखने वाली राजनीतिक घटनाओं का भी सजीव विवरण उपस्थित किया गया है।'' (115) **रंगभूमि** ''गरीबों और अमीरों के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली नाना प्रकार की समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है।'' (115) इसी तरह **कर्मभूमि** : ''हमारे राष्ट्र के निर्माण कार्य में दलितों, गरीब किसानों और मजदूरों की दुरवस्था के सुधार का प्रश्न कितना महत्त्वपूर्ण है और इस प्रश्न की जटिलता दूर करने के लिए हमें क्या-क्या करना चाहिए, यही इसमें बतलाया गया है।'' (16-17)

दलितों, गरीब किसानों और मजदूरों की दुरवस्था पर ध्यान केन्द्रित करना प्रगतिशील साहित्य की मुख्य विशेषता बना। सामन्तवादी संस्कृति के पोषक जितने तत्त्व भारत में थे, वे जन-साधारण के जीवन की समस्याओं से साहित्य को जोड़ने का प्रबल विरोध करते थे। वे जानते थे, इन समस्याओं से साहित्य को जोड़ने का परिणाम देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन को बढ़ावा देना होगा। परन्तु झा ने पूछा : ''फ्रांस के लेखकों ने क्या फ्रांसीसी विप्लव का विश्लेषण अपनी-अपनी रचनाओं में नहीं किया है? रूस के कहानी-लेखकों तथा उपन्यासकारों की रचनाएँ क्या रूस की राज्यक्रान्ति का चित्र उपस्थित नहीं करतीं?'' (119) प्रेमचन्द के जीवनकाल में और उनके निधन के बाद भी शाश्वतवादियों का कहना था कि प्रेमचन्द में एक बड़े कलाकार की क्षमता है ही नहीं। झा ने बड़ी दृढ़ता से इस लांछन का उत्तर दिया : ''अपनी कृतियों में अपने समय का सर्वांग सुन्दर चित्र उतारना यदि साहित्यिक अक्षमता है तो इसी अक्षमता के नाते प्रेमचन्द जी भारतीय कथा-साहित्य के संसार में आज अपने समय के सबसे विश्वस्त प्रतिनिधि कलाकार कहे जा सकते है''...सच तो यह है कि इनका प्रस्तुत किया हुआ साहित्य सामयिकता की छाप लिए हुए है, इसी से उसकी आत्मा को हम अच्छी तरह पहचान सकते हैं, उसे जी खोलकर प्यार कर सकते हैं, उसके साथ अपनी अनुभूति का सामंजस्य संस्थापित कर सकते हैं।'' (117-118)

जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की पुस्तक प्रेमचन्द की उपन्यास कला प्रेमचन्द पर, मेरी जानकारी में, पहली आलोचना पुस्तक है, वह निश्चय ही प्रेमचन्द के उपन्यासों पर ध्यान केन्दित करने वाली पहली पुस्तक है और प्रगतिशील दृष्टिकोण से प्रेमचन्द साहित्य का विश्लेषण करने वाली भी वह पहली पुस्तक है। प्रेमचन्द अपने कथा-साहित्य में जो दृष्टि अपनाते हैं, उसी का प्रतिफलन झा की आलोचना है। इस प्रकार मूल कथा साहित्य और उसकी आलोचना में यहाँ जबर्दस्त सामंजस्य है। यह इस पुस्तक का युगान्तरकारी महत्त्व है। स्मरणीय है कि प्रेमचन्द की अमर कृति, गोदान, अभी प्रकाशित न हुई थी।

प्रेमचन्द के मार्क्सवादी अध्ययन का आरम्भिक प्रयास

हिन्दी में अपना पहला लेख मैंने निराला पर लिखा था, हिन्दी में अपनी पहली आलोचना पुस्तक मैंने प्रेमचन्द पर लिखी। मेरे कई मित्रों को आश्चर्य था कि अपनी पहली पुस्तक के लिए मैंने निराला की जगह प्रेमचन्द को चुना। यह पुस्तक सन् 39-40 में लिखी गई थी और 1941 में प्रकाशित हुई थी। उस समय 'हंस' प्रगतिशील लेखकों का मुख्यपत्र था, मैं उसमें लिखता तो था पर प्रगतिशील लेखक संघ का सदस्य नहीं था। प्रगतिशील साहित्य को लेकर उस समय बहुत तरह के विवाद चल रहे थे। इन विवादों से जुड़े हुए लेखकों में एक दल उनका था जो प्रेमचन्द साहित्य के प्रगतिशील पक्ष को अस्वीकार करते थे, वह उन्हें फौरी समस्याओं पर लिखने

वाला प्रचारक मानते थे, कुछ तो उन्हें घृणा का प्रचारक तक कहते थे। उनके मुकाबले में वह मानव हृदय की सूक्ष्म भावनाओं का चित्रण करने वाले के रूप में शरच्चन्द्र को पेश करते थे। दूसरा दल उन लेखकों का था जो प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता स्वीकार करते थे पर मानते थे कि प्रेमचन्द यह आवश्यकता पूरी नहीं कर पाए। ये लोग यूरोप की भाषाओं के बड़े-बड़े लेखकों का नाम लेते थे और उनकी तुलना में प्रेमचन्द को बहुत पिछड़ा हुआ पाते थे। उनकी यह अभिलाषा भी थी कि जो काम प्रेमचन्द नहीं कर पाए, उसे अब वे स्वयं करेंगे। इन्हीं को लक्ष्य करके अपनी पुस्तक की भूमिका में मैंने लिखा था : ''प्रेमचन्द ने साहित्य में कितना काम किया है और कहाँ से अपनी साहित्यिकता आरम्भ करने से लेखक प्रगतिशील बन सकता है—कम-से-कम इतना इस पुस्तक के पढ़ने से स्पष्ट हो जाना चाहिए।''

प्रगतिशील साहित्य का विकास आवश्यक है पर यह विकास तभी होगा जब नए लेखक प्रेमचन्द को पढ़ेंगे, उनसे सीखेंगे और उनकी तरह श्रमिक जनता से घनिष्ठ सम्पर्क कायम करेंगे। मैंने भूमिका में यह भी लिखा था : ''आज के साहित्यिक के विचार बहुत कुछ स्पष्ट हो गए हैं परन्तु उसके पास प्रेमचन्द का अनुभव नहीं है, उनकी-सी सच्चाई भी कम है। प्रेमचन्द की कृतियों का हमारे लिए यह सन्देश है कि हम जनता में जाकर रहें और काम करें—अपनी रचनाओं में जनता-जनता कम चिल्लाएँ।'' प्रगतिशील लेखन सम्बन्धी वाद-विवाद से निराला उस तरह न जुड़े थे प्रेमचन्द जिस तरह जुड़े थे। इसलिए मेरी पहली आलोचना पुस्तक निराला पर नहीं प्रेमचन्द पर थी। उसकी पृष्ठभूमि में यह वाद-विवाद है, पाठक इस बात का ध्यान रखें।

सन् 36 में प्रेमचन्द ने प्रगतिशील लेखकों के प्रथम सम्मेलन की अध्यक्षता की। इससे पहले वह लेखकों के संगठन की आवश्यकता पर ध्यान दे रहे थे, यह हंस की सम्पादकीय टिप्पणियों से स्पष्ट है और वह हंस को अखिल भारतीय साहित्य का मुखपत्र बना रहे थे यह भी उसके अंकों से स्पष्ट है। किन्तु प्रगतिशील लेखक संघ के प्रमुख कार्यकर्ता मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर प्रेमचन्द के इस कार्य से अपरिचित थे। प्रेमचन्द ने प्रगतिशील लेखक सम्मेलन की अध्यक्षता की, उनकी समझ में इसका भी कोई विशेष महत्त्व न था। महत्त्व था लन्दन में इन लोगों द्वारा 1935 में प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन के बीजारोपण का। 'न्यू इंडियन लिटरेचर' (1939) पत्रिका में मुल्कराज का लेख छपा था—'ऑन द प्रोग्रेसिव राइटर्स मूवमेंट'। इसमें लन्दन वाले उस बीजारोपण का उल्लेख है, प्रेमचन्द का कहीं नाम भी नहीं है। उनके अध्यक्षीय भाषण को छापने का प्रश्न ही न था। मुल्कराज आनन्द ने अपने लेख में भारत की अन्य भाषाओं के लेखकों के नाम गिनाए हैं, इंग्लैण्ड के लेखकों की भी चर्चा की है, परन्तु प्रेमचन्द का नाम उन्होंने नहीं लिया। मुल्कराज आनन्द के चेतन या उपचेतन में कहीं प्रेमचन्द के प्रति स्पर्धाभाव था। दोनों कथाकार थे, दोनों अपने-अपने ढंग से प्रगतिशील थे। भारत का प्रतिनिधि लेखक किसे माना जाए? मुल्कराज ने अपना साहित्य अंग्रेजी में लिखा था और अधिकतर इंग्लैण्ड में रहते हुए लिखा था। प्रेमचन्द ने अपना साहित्य हिन्दी-उर्दू में लिखा था, और अधिकतर किसानों के जीवन को लेकर लिखा था। मुल्कराज के पाठक दो बातों की विशेष चर्चा करते थे : एक तो गालियों का व्यवहार, अधिकतर अंग्रेजी अनुवाद में; दूसरे जहाँ-तहाँ यौन क्रियाओं का वर्णन। प्रेमचन्द इन दोनों से कोसों दूर थे। सन् 20 के आसपास भारत में जगह-जगह आन्दोलन फूट रहे थे, प्रेमचन्द इनसे परिचित थे, मुल्कराज उनसे कोसों दूर थे।

उस समय प्रगतिशील लेखकों की आम धारणा यह थी कि गोदान लिखते समय प्रेमचन्द अच्छे प्रगतिशील लेखक बन रहे थे, तभी दुर्भाग्य से उनका देहान्त हो गया। यह धारणा मार्च 1937 के विशाल भारत में प्रकाशित शिवदान सिंह चौहान के प्रसिद्ध लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' में प्रतिबिम्बित है। दोष शिवदान सिंह चौहान का नहीं है। वह अभी हिन्दी साहित्य से परिचित हो रहे थे और इस साहित्य पर मुल्कराज-सज्जाद जहीर से प्राप्त सूत्रों को सिद्ध कर रहे थे। बागडोर शिवदान सिंह के हाथ में नहीं, उन दोनों महारथियों के हाथ में थी। ये महारथी उर्दू-अंग्रेजी से परिचित थे, हिन्दी से उनका परिचय बहुत कम था। प्रेमचन्द हंस हिन्दी में निकालते थे, उर्दू या अंग्रेजी में नहीं। मुल्कराज और सज्जाद जहीर की तुलना में शिवदान सिंह हिन्दी-साहित्य के विद्वान थे। हिन्दी पाठक मुल्कराज और सज्जाद जहीर के बारे में कुछ न जानते थे, उनके लिए शिवदान सिंह नई विचारधारा के प्रतिनिधि थे।

उस समय प्रगतिशील लेखक संघ के संगठनकर्ता यह मानते थे कि उनके अविर्भाव से पहले भारतीय भाषाओं में जो कुछ लिखा गया है, वह अधिकतर निर्जीव और प्रतिक्रियावादी है। यह धारणा उनके 1936 के घोषणा-पत्र में है, 1938 के उसके संशोधित रूप में है। यह धारणा अगस्त 1938 के **रूपाभ** के संपादकीय में है। **रूपाभ** के संपादक को यह बहुत स्वाभाविक लगता था कि संसार के प्रगतिशील साहित्यिक ज्वार में ''पिछले युगों की, वर्गों में सीमित समस्त संस्कृतियाँ सदैव के लिए एक नवीन जलप्रलय में बहकर निमग्न हो जाएँगी।'' यह एक बालरोग था जिससे अनेक युवा और प्रौढ़ लेखक पीड़ित थे। बहुत से लोग समझते थे कि साहित्य में मार्क्सवाद को लागू करने का यही तरीका है। जिस मार्क्सवाद को वे लागू कर रहे थे, वह मार्क्स और एंगेल्स की कुछ स्थापनाओं पर आधारित था। उन्होंने मार्क्स, एंगेल्स के चिन्तन की विकासमानता को, उस चिन्तन के क्रान्तिकारी सारतत्व को न पहचाना था। वह बालरोग सन् 40-41 में था और सन् 90-91 में भी है।

सवाल केवल प्रेमचन्द या तुलसीदास का नहीं है, अंग्रेजी राज कायम होने से पहले भारतीय समाज के सारे विकास का है। यदि भारत स्वायत्त ग्राम समाजों का देश रहा है तो अंग्रेजी राज कायम हुए बिना यहाँ कोई परिवर्तन हो कैसे सकता था? और इस अपरिवर्तनशील, जड़ समाज में ऊँचे स्तर के साहित्य का सृजन कैसे हो सकता था? भारत के सामाजिक विकास के प्रति और उस समाज में रचे हुए साहित्य के प्रति जो निषेधात्मक दृष्टिकोण पचास साल पहले था, वह बहुत से आलोचनात्मक लेखन में अब भी है। यदि मार्क्स की स्थापनाओं को विकसित और परिवर्तित होते दिखाया जाए तो अनेक विशेषज्ञ

कहते हैं–यह मार्क्सवाद का विरोध है। साथ ही अनेक मार्क्सवादी लेखक यह मानने को तैयार हैं कि बहुत-सा पुराना साहित्य मानवतावादी है। लेकिन इस मानवतावाद का सामाजिक आधार क्या है? कहीं स्वायत्त ग्राम समाज भी मानवतावाद के आधार बने हैं? केवल मार्क्सवादी लेखक नहीं, वामपक्ष के अधिकांश सिद्धान्तकार एक तगड़े अन्तर्विरोध की गिरफ्त में है। वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि भारत के सामंती ढाँचे के भीतर व्यापारिक पूँजीवाद का विकास हुआ; साथ ही यह कहने को तैयार नहीं हैं कि स्वायत्त ग्राम समाजों के देश में रचना हुआ साहित्य त्याग देने के योग्य है।

दो तरह के लेखक इस अन्तर्विरोध से मुक्त हैं। एक है अराजकतावादी। ये कहते हैं, भारत में वर्ग नहीं हैं, यहाँ अगड़ी-पिछड़ी जातियाँ हैं। पिछड़ी जातियाँ अगड़ी जातियों से भिड़ जाएँ–भारतीय क्रान्ति का यही रूप होगा। इनमें अनेक चीनी क्रान्ति के परम प्रशंसक हैं। वे यह नहीं बताते, चीन में कौन-सी पिछड़ी जातियाँ किन अगड़ी जातियों से लड़ी थीं। वहाँ तो धनी, मझोले और गरीब किसानों का सवाल महत्त्वपूर्ण हो जाता है; भारत में रह जाती हैं केवल बिरादरियाँ! बिरादरियाँ आपस में लड़ें। यहाँ मजदूर और गरीब किसान अपने वर्गों के आधार पर तो किसी से लड़ेंगे नहीं! पर उनके न लड़ने से लाभ होगा साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को, और सामंतवाद को भी।

जातिवाद सामन्ती व्यवस्था की देन है। ऊपर से देखने में लगता है नीची जातियाँ ऊँची जातियों से लड़ें तो यह व्यवस्था टूटेगी। वास्तव में ऐसी लड़ाई उस व्यवस्था की सीमाओं के भीतर होती है, सीमाएँ अपनी जगह बनी रहती हैं, उनके टूटने का सवाल नहीं है। मान लीजिए शूद्र लड़-भिड़कर द्विज बन गया और द्विज पतित होकर शूद्र हो गया। द्विज और शूद्र का भेद फिर भी बना रहा। यह भेद सामंती व्यवस्था की विशेषता है। वास्तव में द्विजों के अन्दर बीसियों ऊँची-नीची जातियाँ हैं, वैसे ही शूद्रों में हैं। आक्रमण के लिए अथवा आत्मरक्षा के लिए पिछड़ी जातियाँ संगठित होंगी तो उसी तरह अगड़ी जातियाँ संगठित होंगी। वित्त के चलन से, विनिमय के विकास से, सामंती व्यवस्था विघटित होती

है, वर्ण व्यवस्था टूटती है। भिन्न वर्णों और जातियों के लोग नए स्तर पर पुनर्गठित होते हैं। कबीर जिस साधु को बार-बार सम्बोधित करते हैं, वह वर्णमुक्त हैं, वह शूद्रत्व या द्विजत्व से बँधा हुआ नहीं है। खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि–तुलसीदास के ये किसान किसी एक वर्ण या जाति के नहीं हैं, न उनके भिखारी किसी एक वर्ण या जाति के हैं। तबसे अब तक समाज में वर्ग विभाजन और स्पष्ट हो गया है। प्रेमचन्द साहित्य में यह वर्ग विभाजन साफ दिखाई देता है और इस पुस्तक में उसी आधार पर प्रेमचन्द साहित्य का विवेचन किया गया है।

पुस्तक जब लिखी गई थी, तब मार्क्सवादी पुस्तकें आसानी से न मिलती थीं। मैं सन् 38 में लखनऊ विश्वविद्यालय में अध्यापक हो गया था, वहाँ के पुस्तकालय से अच्छी तरह परिचित था। इससे पहले सन् 31-32 में, बी.ए. के द्वितीय वर्ष में, हमें राजनीति के सिद्धान्त पढ़ाए गए थे। इनमें समाजवाद का सिद्धान्त भी था। मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन की रचनाएँ कहीं देखने को न मिलतीं थीं। सन् 41 में सोवियत संघ पर जर्मन आक्रमण के बाद, काफी संघर्ष के बाद, कम्युनिस्ट पार्टी को कानूनी जीवन बिताने की अनुमति मिलने पर मार्क्सवादी साहित्य धीरे-धीरे सुलभ होने लगा। लेकिन ब्रिटेन के सोशलिस्टों के लेखन में मार्क्सवाद की आलोचना अक्सर होती थी। अप्रत्यक्ष रूप में ही सही, उससे मार्क्सवाद का थोड़ा-बहुत परिचय हो जाता था।

मार्क्सवादी और गैरमार्क्सवादी समाजवाद में मुख्य भेद वर्ग-संघर्ष को लेकर है। गैरमार्क्सवादी सोशलिस्ट वर्गों की बात करते थे, वर्ग-संघर्ष से बचते थे। मेरी पुस्तक में वर्गों की बात है, वर्ग-संघर्ष की भी। प्रेमचन्द के समय में जैसा भारतीय समाज था, वैसे समाज का विश्लेषण इंग्लैण्ड के किसी सोशलिस्ट ने न किया था।

यहाँ दो तरह के यथार्थ एक साथ विद्यमान थे : एक वर्गों का यथार्थ, दूसरा वर्णों और बिरादरियों का यथार्थ। मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन की रचनाओं में ऐसे सूत्र नहीं हैं जिनको लागू करने से भारतीय समाज का विश्लेषण अपने आप प्रस्तुत हो जाए। प्रेमचन्द के मार्क्सवादी अध्ययन के रास्ते में अनेक कठिनाइयाँ थीं, अब भी हैं।

वर्गों के आधार पर प्रेमचन्द साहित्य का विश्लेषण करने के लिए मैंने उपन्यासों के साथ उनकी कहानियों को भी समेट लिया था। कथा-साहित्य के अलावा उनके विवेचनात्मक गद्य पर भी मैंने भरसक ध्यान दिया था। 'आदर्श और यथार्थ' शीर्षक पहले अध्याय में प्रेमचन्द के मानस में दो विरोधी प्रवृत्तियों के द्वन्द्व का विवरण है। निष्कर्ष यह है कि ''उनकी आन्तरिक मनोवृत्ति यथार्थवाद की ओर थी।'' आदर्शवाद की रक्षा के लिए वह यथार्थ की कटुता को छिपाते नहीं है। 'महाजनी सभ्यता' के अन्तर्गत पूँजीवाद और पूँजीवादी संस्कृति के बारे में प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का विवेचन है। अगले चार अध्यायों में राजाओं, जमींदारों, हाकिमों और महाजनों द्वारा किसानों के शोषण की चर्चा है। 'राजनीतिक आन्दोलन' में स्वाधीनता आन्दोलन के प्रति विभिन्न वर्गों की अलग-अलग तरह की धारणाएँ दिखाई गई हैं। इस आन्दोलन की कमजोरी यह है कि वह निर्धन जनता के कष्ट दूर करने के लिए उसे गोलबन्द नहीं कर पाता। ''प्रेमचन्द में अथवा उनके युग में नए नेतृत्व का निर्माण नहीं होता, न वह जनता को दूसरी राह से आगे बढ़ने का आदेश करता है।'' नया नेतृत्व, अर्थात् गैरकांग्रेसी नेतृत्व; दूसरी राह से,

क्रान्तिकारी राह से, स्वाधीनता आन्दोलन का आगे बढ़ना आवश्यक था। 'समाज से बहिष्कृत' में दलित, चमार, मेहतर, आवारा, भिखारी, अनाथ बच्चे आदि हैं। जिनसे प्रेमचन्द को गहरी सहानुभूति थी। मेरे लिए अब भी इस पुस्तका का बहुत दिलचस्प अध्याय है 'समाज की मर्यादा'। इसमें परिवार के विघटन पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। मार्क्सवादी साहित्य में परिवार पर कम ही लिखा जाता है। परिवार और उनकी संस्कृति वर्गों से परे नहीं है। एक शोषण परिवार के बाहर है, दूसरा उसके भीतर है। ''समाज में इस भीतरी शोषण की जड़ जमाए रखने के लिए धर्म और अन्धविश्वास उसे सींचा करते हैं।''

इस तरह का अध्ययन मुख्यतः समाजशास्त्रीय होता है। पर यहाँ एक अध्याय 'प्रेमचन्द की कला' पर भी है। इसे अपर्याप्त कहा जा सकता है पर लेखक ने कलापक्ष पर ध्यान ही नहीं दिया, उस पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता। मेरा उद्देश्य प्रगतिशील लेखकों को यह बताना था कि पहले वे प्रेमचन्द साहित्य में भारतीय समाज की प्रतिच्छवि पहचानें, अपनी रचनाओं में प्रेमचन्द के बराबर आ जाएँ, फिर उनसे आगे बढ़ने का दावा पेश करें। 'प्रेमचन्द के विचार' (परिशिष्ट) के अन्त में यह उद्देश्य स्पष्ट कर दिया गया था। प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के अध्यक्ष प्रेमचन्द के लिए ''प्रगतिशील लेखक साहित्य में कुछ ऐसा न करने जा रहे थे जो नितांत नवीन हो और पूर्व साहित्य उससे अपरिचित हो। केवल नाम का बिल्ला लगाने से कोई प्रगतिशील या अन्य रूप से महान साहित्यिक नहीं हो जाता।'' प्रगतिशील लेखक संघ के नेता स्वयं को मार्क्सवादी कहते थे, इसलिए परम्परागत आलोचना का मार्ग छोड़कर मैंने उन्हें यह बताने का प्रयत्न किया था कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रेमचन्द का विश्लेषण किया जाए तो भारतीय समाज का एक भरा-पूरा चित्र उनके साहित्य में उभरकर सामने आता है।

इस विश्लेषण की सीमाएँ थीं। पुस्तक में किसी भी उपन्यास या कहानी का, उसकी समग्रता में, कलाकृति के रूप में, विवेचन न किया गया था। इसलिए कलाकार के रूप में प्रेमचन्द की रचना-क्षमता का भरपूर निदर्शन न हो सकता था। इसके विपरीत कलाकृतियों के अलग-अलग विवेचन से समग्र प्रेमचन्द साहित्य में किसी भी वर्ग के चित्रण की जानकारी न हो सकती थी। ऐसी जानकारी देने का यह पहला प्रयास था। ऐसा प्रयास, अधिक विस्तार से, अधिक गहराई से, किया जाना चाहिए; वह भारतीय समाज की जानकारी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। लेनिन ने तोल्स्तोय पर कई लेख लिखे थे। इनमें उन्होंने अलग-अलग कलाकृतियों का विवेचन न करके, समग्र तोल्सतोय (कथा और गैर कथा) साहित्य सामने रखकर उसमें सामाजिक यथार्थ के, विशेष रूप से किसानों की भावनाओं के, चित्रण पर जोर दिया था। प्रेमचन्द पर इस पुस्तक के छप जाने के कई साल बाद मुझे तोल्सतोय पर लेनिन के लेख पढ़ने को मिले थे।

अंग्रेजी, रूसी और फ्रांसीसी कथा-साहित्य की जो थोड़ी-सी जानकारी मुझे है, उससे मुझे लगता है, किसानों के चित्रण में प्रेमचन्द से बड़ा कलाकार दूसरा नहीं हुआ। अन्य महान कलाकारों ने किसानों को कथा की पार्श्वभूमि में रखा है, प्रेमचन्द ने उन्हें अग्रभूमि में ला खड़ा किया है। विशेष रूप से मझोले और निर्धन किसानों की बहुत बड़ी संख्या उनके कथा-साहित्य में है और यही लोग दोहात में समाजवादी व्यवस्था का निर्माण करते हैं। प्रेमचन्द इस व्यवस्था का स्वप्न देखते थे। वह खेती के पुनर्गठन को आवश्यक मानते थे और इस पुनर्गठन की दिशा निजीकरण की ओर नहीं, सहकारिता की ओर है। प्रेमचन्द के स्वप्न का भी महत्त्व है। वह खेती की समस्या के पूँजीवादी समाधान को अस्वीकार करता है। खेती ही नहीं, शहरी उद्योग में भी, प्रेमचन्द पूँजीवादी शोषण का विरोध करते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन की खामियों के लिए वह पूँजीवादी प्रभाव को जिम्मेदार मानते थे। पूँजीवाद की यह आलोचना प्रेमचन्द के युग से कहीं अधिक हमारे आज के जमाने के लिए प्रासंगिक है।

विश्व साहित्य में प्रेमचन्द के स्थान का निर्धारण उनके कथा-साहित्य के किसानों के चित्रण के आधार पर होगा। ये किसान इतने सजीव हैं कि लगता है, प्रेमचन्द उनके अन्तस में पैठकर देख आए हैं, वे क्या सोचते-विचारते हैं। प्रेमचन्द ने बहुत अच्छी कहानियाँ लिखी हैं पर विभिन्न वर्गों के परस्पर घात-प्रतिघात का विशद चित्रण उनके उपन्यासों में ही मिलता है। तोल्स्तोय की तरह वह भी कहानी लेखक की अपेक्षा उपन्यासकार के ही रूप में अधिक मान्य हुए हैं। ये उपन्यास किसानों के शोषण के विभिन्न पक्ष उद्घाटित करते हैं। इस पुस्तक की भूमिका में मैंने लिखा था : ''प्रेमाश्रम का आधार किसान-जमींदार का संघर्ष है; गोदान की समस्या किसान-महाजन की है। कर्मभूमि में अछूत आन्दोलन और रंगभूमि में नए उद्योग-धन्धों से गाँवों में परिवर्तन का चित्रण किया गया है। समाज के इतने विभिन्न स्तरों का व्यापक ज्ञान बहुत कम साहित्यिकों में मिलेगा।''

गोर्की और लेनिन

भूमिका में मैंने रूस के तीन लेखकों, गोर्की, तोल्स्तोय और दॉस्तोयेव्स्की तथा भारत के शरच्चन्द्र का उल्लेख किया है और किसान जीवन के चित्रण में इन सबसे प्रेमचन्द को श्रेष्ठ माना है। पचास साल बाद मैं उस मान्यता को अभी सही मानता हूँ। देश-विदेश के कई आलोचकों ने प्रेमचन्द की तुलना तोल्स्तोय से की है। धार्मिक विश्वासों के प्रति दोनों के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर था, इस तथ्य पर इन आलोचकों ने कम ही ध्यान दिया है। भूमिका में उसकी ओर संकेत किया गया है। विश्व साहित्य से हिन्दी साहित्य को खारिज करने वाले विद्वानों ने इस स्थापना पर कोई टिप्पणी नहीं की कि किसानों के चित्रण में प्रेमचन्द संसार के सर्वश्रेष्ठ कथाकार हैं पर उन्होंने गोर्की के प्रसंग में आवारगी के उल्लेख को लेकर काफी हल्ला मचाया। गोर्की—संसार का महान क्रान्तिकारी लेखक, उसे रामविलास ने आवारा कहा, क्रान्ति विरोध का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा?

गोर्की के बारे में जो कुछ मैंने प्रेमचन्द की भूमिका में लिखा था, वह सन्दर्भ सहित यह था : ''अनेक दृष्टियों से ये महान लेखक (गोर्की, तोल्सतोय, दॉस्तोयेव्स्की) अपने युग से पिछड़े थे। गोर्की में आवारापन अत्यधिक था और वर्ग-संघर्ष की उसे पूरी-पूरी जानकारी न थी। उसने अपनी डायरी में अपनी आवारा प्रवृत्तियों का मार्मिक वर्णन किया है। अपने रोमांटिसिज्म के कारण वह क्रान्ति के पश्चात भी क्रान्ति के पूर्व के ही पुराने चित्र बनाता

रहा। प्रेमचन्द अपने युग के साथ थे और अपने युग की उथल-पुथल को उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है।'' प्रश्न यह था कि कौन अपने युग के साथ था, कौन उससे पिछड़ रहा था। निर्णय यह है कि प्रेमचन्द अपने युग के साथ थे, गोर्की पिछड़ रहे थे। दोनों के युग अलग-अलग थे, दोनों की सामाजिक परिस्थितियाँ अलग-अलग थीं—यह बात भूमिका में स्पष्ट कर दी गई है : ''रूसी क्रान्ति के पूर्व का युग बहुत कुछ भारतवर्ष जैसा था, परन्तु वहाँ की राजनीति में यहाँ से अधिक प्रगति थी। वहाँ पर किसान-मजदूरों का एक दृढ़ आन्दोलन चल रहा था जबकि यहाँ सुधारवादी कांग्रेस खद्दर और चर्खे को लेकर खेल कर रही थी।'' गोर्की अपने देश की परिस्थितियों को देखते अपने युग से पिछड़े हुए थे, भारत की परिस्थितियों को देखते नहीं। इसी तरह प्रेमचन्द भारत की परिस्थितियों को देखते अपने युग के साथ थे, रूस की परिस्थितियों को देखते नहीं।

गोर्की ने अपना प्रारम्भिक जीवन उन आवारा और घुमंतू लोगों में बिताया था जिनके पास रहने को निश्चित ठिकाना नहीं होता, करने को निश्चित धन्धा नहीं होता। इनमें बहुत से अपराधकर्मी थे। गोर्की जिन लोगों के सम्पर्क में आए थे, अपनी आत्मकथा में उन्होंने उनके जीवन का मार्मिक वर्णन किया है। उनकी सबसे अच्छी कहानियाँ मजदूरों और किसानों पर नहीं ऐसे ही खानाबदोश लोगों पर लिखी गई हैं। गोर्की इनमें मनुष्यता के दर्शन कराते हैं, यह उनकी कला की विशेषता है। अपने विश्व प्रसिद्ध उपन्यास 'माँ' में उन्होंने मजदूरों का चित्रण किया है। इस उपन्यास के बावजूद उनके मानस में मजदूर वर्ग की भूमिका स्पष्ट नहीं थी। मैंने गोर्की के इस उपन्यास के अलावा उनकी डायरी भी पढ़ी थी। उस डायरी का पता-ठिकाना यह था : फ्रैगमेंट्स फ्रॉम माई डायरी बाइ मैक्सिम गोर्की, फिलिप ऐलन् एण्ड कम्पनी, लन्दन, पहली बार 1924 में प्रकाशित। इसके पृ. 215 पर गोर्की ने बुद्धिजीवी वर्ग (इंटेलीजेंशिया) के बारे में लिखा था : ''हमेशा-हमेशा उसने इतिहास के लद्दू घोड़े की भूमिका निबाही है और निबाहता रहेगा। अपनी अथक मेहनत से उसने सर्वहारा को क्रान्ति की बुलन्दी तक उठा लिया है। तात्कालिक समाधान के लिए इस क्रान्ति ने जो समस्याएँ हमारे सामने रखी हैं, वे अपनी विशालता और गहराई में अभूतपूर्व हैं।''

क्रान्ति और बुद्धिजीवियों के प्रसंग में लेनिन ने गोर्की के बारे में, और गोर्की को लिखे पत्रों में, जो कुछ कहा था, उसकी जानकारी मुझे उस समय न थी। हो सकता है, बहुत से हिन्दी पाठक उससे परिचित न हों। जिन्हें भी जन आन्दोलन से, उससे जुड़े हुए साहित्य से, दिलचस्पी हो, उनके लिए वह प्रसंग महत्त्वपूर्ण होगा। इसलिए उस पर मैं कुछ विस्तार से लिख रहा हूँ। फरवरी 1917 में रूस के पूँजीपति वर्ग ने जार को गद्दी से उतार दिया और जनवादी सरकार कायम की। इस जनवादी सरकार ने भूमि पर जमींदारों का प्रभुत्व बना रहने दिया, युद्ध में ब्रिटेन और फ्रांस की सहायता करना जारी रखा। जनता की कोई समस्या हल न हुई, इसलिए बोल्शेविक पार्टी तुरन्त इस सरकार को उलटने के प्रयत्न में लग गई। 7 नम्बर 1917 की प्रसिद्ध क्रान्ति में उसने इसी सरकार का तख्ता उलटा था। लेकिन गोर्की ने इस सरकार के प्रति भिन्न रुख अपनाया था। मार्च 1917 में लेनिन स्विट्जरलैण्ड में थे। वहाँ उन्होंने एक जर्मन पत्र में यह समाचार पढ़ा :

''स्वीडन से रिपोर्ट मिली है कि मैक्सिम गोर्की ने सरकार और कार्य समिति का उत्साहपूर्ण शब्दों में अभिनन्दन किया है। उन्होंने प्रतिक्रियावाद के प्रभुओं पर जनता की विजय का स्वागत किया है और समस्त रूस के पुत्रों का आह्वान किया है कि वे नई रूसी राज्यसत्ता की इमारत खड़ी करने में हाथ बँटाएँ। साथ ही सरकार से उन्होंने आग्रह किया है कि शान्ति-समझौता करके मुक्ति के उद्देश्य में चार चाँद लगाएँ। उनका कहना है, यह किसी भी कीमत पर हासिल की हुई शान्ति न होनी चाहिए। रूस के लिए अब पहले से और भी कारण कम है कि वह किसी भी कीमत पर शान्ति हासिल करने को प्रयत्नशील हो। शान्ति ऐसी होनी चाहिए कि रूस धरती पर अन्य राष्ट्रों के बीच सम्मान के साथ रह सके। मानवता ने काफी खून बहाया है। नई सरकार यदि जल्दी शान्ति-समझौता करने में सफल हो जाए, तो वह केवल रूस की नहीं समस्त मानवजाति की बहुत बड़ी सेवा करेगी।''

रोजमर्रा की जिन्दगी में बँधे हुए मन्द दृष्टि के लोगों के लिए लेनिन 'फिलिस्टिन' शब्द का प्रयोग करते थे। गोर्की के पत्र का विवरण पढ़कर उन्होंने लिखा : ''आदि से अन्त तक यह पत्र घिसे-पिटे फिलिस्टिन पूर्वाग्रहों से भरपूर है। इन पंक्तियों के लेखक को काप्री में गोर्की से अनेक बार मिलने का, उनकी राजनीतिक गलतियों के लिए उन्हें चेतनावनी देने और उनकी भर्त्सना करने का, अवसर मिला है। गोर्की अपनी अनुपम आकर्षक मुस्कराहट से उस भर्त्सना को तरह दे जाते थे और बड़ी सादगी से कहते थे : 'मैं जानता हूँ, मैं खराब मार्क्सवादी हूँ। इसके सिवा हम सभी कलाकार थोड़ा गैर जिम्मेदार हैं।' इसके विरुद्ध बहस करना आसान नहीं है।

''इसमें सन्देह नहीं है कि गोर्की में भारी कलात्मक क्षमता है जो विश्व सर्वहारा आन्दोलन के लिए अत्यन्त लाभकारी हुई है और होगी।

''लेकिन गोर्की राजनीति से क्यों उलझते हैं?

''मेरी राय में गोर्की के पत्र में जो पूर्वाग्रह व्यक्त हुए हैं, वे केवल निम्न पूँजीवादी वर्ग में नहीं, वरन उससे प्रभावित मजदूरों के एक हिस्से में भी बेहद फैले हुए हैं। इन पूर्वाग्रहों के विरुद्ध लगातार जमकर, चौतरफा संघर्ष चलाने पर हमारी पार्टी की सारी शक्ति, वर्ग चेतन मजदूरों की सारी कोशिशें, केन्द्रित होनी चाहिए।

''निर्बल जातियों को लूटने और उनका गला घोटने के लिए ज़ार सरकार ने वर्तमान युद्ध एक साम्राज्यवादी, लूटमार वाले युद्ध के रूप में शुरू किया और चलाया था। गुच्कोव-मिल्यूकोव मंडली की सरकार जमींदारों और पूँजीपतियों की सरकार है। वह ठीक उसी तरह का युद्ध चालू रखने को बाध्य है और उसे चालू रखना चाहती है। उस सरकार से जनवादी शान्ति कायम करने के लिए कहना वेश्यालय के रखवालों को सदाचार का उपदेश देना है।'' (लेनिन : कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 23, पृ. 333-334)

लेनिन को गोर्की से शिकायत है कि वह राजनीति से उलझते हैं। उनकी कलात्मक प्रतिभा के बारे में उन्हें जरा भी सन्देह नहीं

है पर कलात्मक प्रतिभा और राजनीति एक ही चीज नहीं है। गोर्की के मन में पूर्वाग्रह भरे हैं। ये पूर्वाग्रह निम्न पूँजीवादी वर्ग के हैं, लेनिन की पार्टी को और समस्त वर्ग चेतन मजदूरों को उन्हें ध्वस्त करने में सारी शक्ति लगा देनी है। इस तरह गोर्की अपने युग की मूल सामाजिक धारा से पिछड़ रहे थे। यही नहीं, वह उसके विरोध में खड़े थे। आज, 1990-91 में, बहुत से लोग कहने लगे हैं, रूसी क्रान्ति की क्या जरूरत थी। अच्छी खासी जनवादी सरकार कायम हो गई थी, उसे चलने देना चाहिए था। ये लोग निम्न पूँजीवादी (और सीधे पूँजीवादी) विचारधारा से प्रभावित हैं, वे इतिहास में मजदूरों और किसानों की सत्ता के विरुद्ध पूँजीपतियों और जमींदारों की सत्ता का समर्थन करते हैं। रूस की जनवादी सरकार देश को साम्राज्यवादी युद्ध में फँसाए हुए थी। उसके ये समर्थक साम्राज्यवादी नरसंहार और लूटमार का समर्थन करते हैं। लेनिन ने गोर्की के प्रसंग में जो कुछ कहा, वह आज के लिए बहुत प्रासंगिक है।

नवम्बर 1917 में क्रान्ति काफी शान्तिपूर्ण ढंग से हो गई। उसके बाद साम्राज्यवादी ताकतों ने हस्तक्षेप किया, गृहयुद्ध तेज हुआ, किसान-मजदूर सत्ता के विरुद्ध पूँजीवादी बुद्धिजीवियों ने षड्यन्त्र आरम्भ किए। सोवियत सरकार ने उन्हें जेल में बन्द कर दिया। इससे गोर्की बहुत विचलित हुए। उन्हें लगा कि बोल्शेविक पार्टी देश की बौद्धिक क्षमता का नाश कर रही है। जो लोग सोवियत सत्ता के लिए लड़ रहे हैं और जो उसका नाश करने को लड़ रहे हैं, दोनों ही जनता के शत्रु हैं—अपनी राय उन्होंने लेनिन को लिख भेजी। लेनिन ने गोर्की को लिखा :

''पूँजीपति वर्ग और उसके अनुचरों को परास्त करने के संघर्ष में मजदूरों और किसानों की बौद्धिक शक्ति बढ़ रही है और अधिक सक्षम हो रही है। पूँजी के चाकर समझते हैं कि वे राष्ट्र का दिमाग है। वास्तव में वे राष्ट्र का दिमाग नहीं, उसका मल हैं।

''जो 'बौद्धिक शक्ति' विज्ञान को जनता के पास लाना चाहती है (और पूँजी की सेवक बनकर काम नहीं करना चाहती), उसे हम औसत से ज्यादा तनख्वाह देते हैं। यह तथ्य है। हम उसकी देखाल करते हैं। यह तथ्य है। सैंकड़ों गद्दारों के बावजूद हजारों अफसर लाल फौज में काम कर रहे हैं और विजय प्राप्त कर रहे हैं। यह तथ्य है।

''जहाँ तक तुम्हारी मनोदशाओं (मूड्स) का सवाल है, मैं उन्हें बखूबी 'समझ' सकता हूँ (चूँकि तुमने सवाल उठाया है कि मैं तुम्हें समझ पाऊँगा या नहीं)। अक्सर काप्री में, और बाद को, मैंने तुमसे कहा था : तुम पूँजीवादी बुद्धिजीवियों में सबसे घटिया लोगों से स्वयं को घिरा रहने देते हो और उनकी पें-पें के आगे झुक जाते हो। कुछ हफ्तों की 'भयानक' गिरफ्तारी को लेकर तुम सैंकड़ों बुद्धिजीवियों की चीख-पुकार सुनते हो और उस पर कान देते हो लेकिन आम जनता की, करोड़ों की, मजदूरों और किसानों की आवाज तुम नहीं सुनते, उस पर कान नहीं देते। इनके लिए देनिकिन, कोल्चक, लिआनोजोव, रोद्जियांको, क्रांस्नाया गोर्का (और अन्य कैडेट) षड्यन्त्रकारी खतरा बने हुए हैं। मैं खूब समझता हूँ, बिलकुल और बखूबी समझता हूँ कि इस तरह आदमी लिखते-लिखते यह कह सकता है कि 'लाल फौज के लोग जनता के वैसे ही शत्रु हैं जैसे श्वेत फौज के लोग हैं ('The Reds are just as much enemies of the people as Whites') (पूँजीपतियों और जमींदारों का तख्ता उलटने के लिए लड़ने वाले जनता के वैसे ही शत्रु हैं जैसे जमींदार और पूँजीपति)। यही नहीं, लिखते-लिखते आदमी दयालु ईश्वर या हमारे पिता जार के प्रति विश्वास भी प्रकट कर सकता है। मैं खूब समझता हूँ।

''नहीं, सच ही यदि पूँजीवादी बुद्धिजीवियों के इस परिवेश से तुम अपना पिंड न छुड़ाओगे तो गड्ढे में गिरोगे! मैं हृदय से चाहता हूँ कि तुम जल्दी-से-जल्दी यह कर डालो।'' (लेनिन : कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 44, पृ. 284-285) (यानी जल्दी-से-जल्दी पूँजीवादी बुद्धिजीवियों से अपना पिंड छुड़ा लो)।

लेनिन की मृत्यु के काफी दिन बाद स्तालिन गोर्की को सही रास्ते पर लाने में सफल हुए। गोर्की ने सोवियत लेखकों की पहली कांग्रेस की अध्यक्षता की ओर नए सोवियत साहित्य के विकास में मार्गदर्शक की भूमिका निबाही। ऐसा इसलिए न हुआ था कि बोल्शेविक नेताओं ने उनकी राजनीतिक गलतियों को नजरंदाज किया था। ऐसा इसलिए हुआ कि बोल्शेविक नेताओं ने उनकी गलतियों की आलोचना की और गोर्की पुरानी गलतियाँ छोड़कर सही रास्ते पर आगे बढ़े।

हमारे अनेक प्रगतिशील लेखक प्रेमचन्द की सीमाएँ बताने को उत्सुक रहते थे, गोर्की जैसे लेखकों की उलझनों के बारे में चुप रहते थे। प्रेमचन्द किसानों के बीच रहे थे, उनके जीवन से परिचित थे, बहुत हद तक उन्होंने उनसे तादात्म्य स्थापित किया था। यह खूबी महावीर प्रसाद द्विवेदी और निराला जैसे लेखकों में भी थी। प्रगतिशील लेखक संघ के संगठनकर्ताओं में उस समय एक भी ऐसा लेखक न था जो किसानों और मजदूरों के जीवन से अच्छी तरह परिचित हो, पर दावा प्रेमचन्द से आगे बढ़ जाने का सब करते थे। लेखक यदि खेतों, कारखानों में काम करने वालों के जीवन से परिचित हो, उनसे उसे सहानुभूति हो, तो वैचारिक उलझनों के बावजूद वह अच्छी कहानियाँ और उपन्यास लिख सकता है। केवल विचारधारा के बल पर जनता का सजीव चित्रण असम्भव है। प्रगतिशील लेखकों ने प्रारम्भिक छह-सात वर्षों में हिन्दी साहित्य के प्रति जो संकीर्णतावादी रुख अपनाया था, वह कभी पूरी तरह खत्म नहीं हुआ। समय-समय पर वह उभरता रहता है। तेवर ये रहते हैं : जो अब तक किसी ने नहीं किया, वह अब हम करने जा रहे हैं।

मैंने जब यह पुस्तक लिखी थी, तब मैं यह समझता था कि स्वाधीनता आन्दोलन किसानों-मजदूरों को संगठित करके नई शक्ति से आगे बढ़ेगा। उसके साथ नए स्तर पर साहित्य का भी विकास होगा। भारत के वामपक्ष में संकीर्णतावादी रुझानों के साथ गहरी सुधारवादी प्रवृत्तियाँ भी रही हैं। या तो देशी पूँजीवाद से सीधी टक्कर या संयुक्त मोर्चे के नाम पर उसके पीछे चलना। जब-जब वह इन रुझानों से मुक्त रहा है, उसकी उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण रही हैं। इस सबका असर प्रगतिशील साहित्य पर भी पड़ा है।

प्रेमचन्द में वैचारिक उलझनें कम नहीं थीं। उनमें अनेक का उल्लेख इस पुस्तक में है। इनके बावजूद जनजीवन की अपनी व्यापक जानकारी और गहरी सहानुभूति के बल पर वह हमारे सबसे बड़े कथाकार हैं। एक समय था जब समाजवादी देशों में भारतीय साहित्य

के प्रतिनिधियों के रूप में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ मुल्कराज आनन्द का नाम लिया जाता था। यह प्रथा धीरे-धीरे खत्म हो गई है। सोवियत संघ में आधुनिक भारतीय साहित्य के अध्ययन का संगठन और संचालन बरान्निकोव ने किया था, सबसे पहले उन्होंने प्रेमचन्द की कहानियों का अनुवाद रूसी भाषा में किया था, फिर उनके शिष्यों ने प्रेमचन्द के उपन्यासों का अनुवाद किया, उन पर लेख और पुस्तकें लिखीं। भारतीय भाषाओं का गम्भीर अध्ययन करने वाले सोवियत विद्वानों ने सदा ही प्रेमचन्द को भारत का श्रेष्ठ और प्रतिनिधि कथाकार माना है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रेमचन्द का सही मूल्यांकन प्रस्तुत करने में इनका बड़ा योगदान रहा है। हम, प्रेमचन्द के हिन्दी पाठक, उसे प्रसन्नता और कृतज्ञतापूर्वक याद करते हैं।

प्रेमचन्द-चीनी विवेचकों की दृष्टि में

इधर 1988 में, चीन से प्रेमचन्द पर एक निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुआ है : चीनी समालोचकों की नजर में प्रेमचन्द। सबसे पहले इन निबन्धों के चीनी अनुवादकों की साफ-सुथरी भाषा की प्रशंसा करनी चाहिए। लगता है, इन्होंने प्रेमचन्द को पढ़ा है, ध्यान से पढ़ा है। प्रेमचन्द के साहित्यिक दर्शन पर अपने निबन्ध का अनुवाद ल्यू आन ऊ ने स्वयं किया है। दिलचस्प बात है कि आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की चर्चा करते हुए इन्होंने प्रेमचन्द को उसकी सीमाएँ लाँघते दिखाया है। फङ त्वानचि ने कथाकार रवीन्द्रनाथ से प्रेमचन्द की तुलना करते हुए गोदान के प्रसंग में लिखा है : ''इस उपन्यास में प्रतिबिम्बित जीवन की गहराई और व्यापकता का मुकाबला (नौका डूबी के) रमेश और (गोरा उपन्यास के नायक) गोरा का जीवन हरगिज नहीं कर सकता है।'' (31) गोदान की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि पाठक बहुत बारीकी से किसानों के जीवन को देख सकता है, उनके दुख-दर्द को समझ सकता है ''स्वयं भारतीय गाँवों में रह रहे होने की ही तरह।'' (उप.) बहुत अच्छा कहा है, गाँवों में रह रहे होने की ही तरह। प्रेमचन्द की यथार्थवादी कला की यह महान उपलब्धि है। यदि चीन के लेखक यह अनुभव करते हैं कि गोदान पढ़ते हुए वह भारत के किसी गाँव में रह रहे हैं तो भारत और चीन के किसानों में कहीं गहरी भावात्मक समानता होनी चाहिए।

ऊ वन ह्वेइ का लेख 'प्रेमाश्रम और प्रेमचन्द का यथार्थवाद' हमें विशेष मनोयोग से पढ़ना चाहिए। इसमें प्रेमचन्द का 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' काफी मुखर है, फिर भी किसानों के लम्बे संघर्ष का जैसा जीवंत चित्रण यहाँ है, वैसा प्रेमचन्द साहित्य में भी अन्यत्र कम है। ऊ वन ह्वेइ के अनुसार ''धरती की ओर झाँकता दर्पण, भारतीय जमीन में जमी जड़ों वाली जनोद्धार की भावना और प्रतिमा, सृजन की चीरफाड़ की तकनीक, ये तीनों प्रेमचन्द के यथार्थवाद की मुख्य विलक्षणताएँ हैं। ये तीन विलक्षणताएँ उनके सुप्रसिद्ध आरम्भकालीन उपन्यास प्रेमाश्रम में बहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई हैं।'' (53-54) ल्यू छिङहो ने गोरा का आनंदमयी से गोदान की धनिया की तुलना की है। आनन्दमयी आदर्श माता है, धनिया यथार्थवाद की जमीन पर रहने वाली देहाती स्त्री है। गोदान का क्रान्तिकारी पक्ष वही उजागर करती है क्योंकि ''उसमें प्रतिरोध की जबरदस्त भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी।'' (128) लेखक की राय से मैं पूरी तरह सहमत हूँ कि ''प्रेमचन्द द्वारा स्थापित महिलाओं की प्रतिमाओं और यहाँ तक कि सभी चरित्रों में भी धनिया यथार्थ और सबसे जीवंत चरित्र है।'' (129)

किसानों के चित्रण में मनोवैज्ञानिक गहराई नहीं हो सकती, ऐसा बहुतों का बहुत दिनों से विचार है। इसलिए हूसिङ थ्येन का यह मत पढ़कर बहुत सन्तोष होता है कि प्रेमचन्द ने मनोवैज्ञानिक चित्रण के सन्दर्भ में सूक्ष्मता तथा सजीवता से सम्पन्न निजी निराली शैली का सृजन किया। जीवन के विशिष्ट अनुभवों और विभिन्न चरित्रों की गहरी जानकारी के कारण प्रेमचन्द अलग-अलग पात्रों के मनोविज्ञान का सच्चा चित्रण करके पाठकों की आत्मा को झकझोर कर कहीं अधिक स्वच्छ बना देते हैं।'' (76) जीवन के विशिष्ट अनुभव, चरित्रों की गहरी जानकारी–इनके बिना मनुष्य के मन का अध्ययन करने वाले विज्ञान का विकास नहीं होता, न साहित्य में पात्रों का सही मनोवैज्ञानिक चित्रण होता है।

किसी भी विदेशी के लिए प्रेमचन्द की भाषा का अध्ययन कठिन होगा, खासतौर से इसलिए कि प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू दोनों में लिखते थे। उपन्यास का एक ही पात्र हिन्दी संस्करण में एक ढंग से बोलेगा, उर्दू संस्करण में दूसरे ढंग से; स्वयं प्रेमचन्द दोनों में अलग-अलग ढंग से बोलेंगे, सो अलग। इसके सिवा बोलचाल की भाषा के नाम पर नेताओं ने संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्द मिलाकर हिन्दुस्तानी नाम से एक संयुक्त भाषाई उद्योग चलाने का प्रयत्न किया था। प्रेमचन्द ने एक भी कहानी, एक भी उपन्यास इस भाषा में न लिखा था। 'साहित्यिक भाषा और कौमी भाषा' पर विचार करते हुए जिन विङहान ने दो बड़ी कायदे की बातें कही हैं। पहली लेख के आरम्भ में : ''आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य का कोई भी अध्येता किताब और लेखक का नाम देखे बिना महज कुछ पन्ने पढ़ते ही जान सकता है कि वह किताब प्रेमचन्द की ही है या किसी और की।'' (97) दूसरी लेख के अन्त में : ''उन्होंने न सिर्फ आधुनिक हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद का बड़ा और चौड़ा मार्ग दिखाया, बल्कि आधुनिक हिन्दी भाषा के निर्माण के लिए महान योगदान किया है।'' (107)

लेखक का नाम देखे बिना किताब पढ़ते ही हम समझ जाएँ कि वह किसकी लिखी है, तो मानना चाहिए, शैली पर उसके व्यक्तित्व की गहरी छाप है। ऐसा तभी होता है जब भाषा पर लेखक का असाधारण अधिकार हो। आधुनिक हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद का विकास और आधुनिक हिन्दी भाषा का निर्माण–ये दोनों बातें एक-दूसरे से जुड़ी हैं। हिन्दी की शक्ति इसी में हैं कि वह यथार्थवाद के विकास के साथ आगे बढ़ी है। गोदान में होरी-धनिया जो हिन्दी बोलते हैं, वह उनकी गाँव की बोली के बहुत नजदीक है। उनकी भाषा के इस रूप से गोदान में यथार्थवाद निखरता है। उसका अनुवाद उर्दू में कर दीजिए, तुरत यथार्थवाद फीका पड़ जाएगा। हिन्दू-उर्दू के क्रियापद एक हैं; इसलिए बुनियादी तौर से वे एक ही भाषा है। जितना ही उनमें यथार्थवाद का विकास होगा, उनमें किसान और मजदूर सहज भाव से बोलेंगे, उतना ही उनके बीच का फासला कम होगा और कुछ समय बाद जैसे बोलचाल की भाषा एक है, वैसे ही साहित्य में हमारी जातीय

भाषा एक होगी। ध्यान देने की बात है कि पिछले चालीस साल में यथार्थवाद की विरोधी धाराएँ ही साहित्य में प्रबल रही हैं–हिन्दी-उर्दू दोनों में। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि साहित्य में हिन्दी-उर्दू के बीच का फासला पहले से बहुत ज्यादा बढ़ गया है। इस परिस्थिति में प्रेमचन्द को पढ़ना, उनसे सीखना हमारी भाषा और साहित्य के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कुल मिलाकर **चीनी समालोचकों की नजर में प्रेमचन्द** पुस्तक प्रेमचन्द के यथार्थवाद पर ध्यान केन्द्रित करती है, इसलिए वह स्वागत योग्य है।

जाति-बिरादरी, वर्ग और प्रेमचन्द

यथार्थवाद के ही प्रसंग में एक प्रश्न और है : प्रेमचन्द शोषक और शोषित जातियों का चित्रण करते हैं या शोषक और शोषित वर्गों का? कुछ लोग अपने को शोषित जनता का मसीहा माने बैठे हैं, वे शोषित वर्गों को हटाकर उनकी जगह शोषित जातियों को बिठा देते हैं। ऊँच-नीच के भेदभाव के प्रति प्रेमचन्द से अधिक सचेत और कोई हिन्दी लेखक नहीं था। पर उनके कथा-साहित्य में वर्ग-संघर्ष है, जमींदारों, महाजनों अंग्रेजी राज के हाकिमों के विरुद्ध संघर्ष है, अगड़ी-पिछड़ी जातियों के बीच संघर्ष नहीं है। कही भी यह संकेत नहीं है कि बिरादरी के आधार पर सब लोग एक हो जाएँ तो उनका उद्धार हो जाएगा। ऊँच-नीच का भेदभाव डूबता हुआ यथार्थ है; वर्गों का निर्माण, जमींदारों-महाजनों के खिलाफ गरीब किसानों का संघर्ष उगता हुआ यथार्थ है। जो लोग बिरादरियों के संगठन पर जोर देते हैं, वे मजदूर वर्ग की एकता को तोड़ते हैं, गरीब किसानों और मजदूरों की एकता को तोड़ते हैं, वे पूँजीपतियों और जमींदारों के पिट्ठुओं की भूमिका निबाहते हैं। जितना ही किसानों और मजदूरों के वर्ग संगठन कमजोर पड़ते हैं, उतना ही सम्प्रदायवाद मजबूत होता है। हर तरह के जातिवाद, हर तरह के सम्प्रदायवाद का एक ही इलाज है–वर्ग-संघर्ष। यह जरूर है कि वर्ग-संघर्ष चलाने पर, चलाना तो दरकिनार, सिर्फ उसकी बात करने पर अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोश से कर्ज न मिलेगा। यह महाजनी सभ्यता का युग है। प्रेमचन्द कितने प्रासंगिक हैं, महाजनी सभ्यता पर उनके लेख से साबित होता है।

सितम्बर 1936 में हंस में प्रेमचन्द का 'महाजनी सभ्यता' लेख छपा था। महाजनी सभ्यता पूँजीवादी सभ्यता है, यह बात प्रेमचन्द के एक वाक्य से स्पष्ट हो जाती है : ''परन्तु अब एक सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नारकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है।'' विश्व पैमाने पर पूँजीवाद ने समाज को दो हिस्सों में बाँट दिया है। ''बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किए हुए हैं।'' इस बड़े हिस्से में भारत की जनता शामिल है। वैसे तो भारत के पूँजीपतिवर्ग को भी साम्राज्यवाद दबाता है पर इससे देशी पूँजीवाद का अपना उत्पीड़क रूप समाप्त नहीं हो जाता; भारतीय जनता से इस पूंजीवाद का अन्तर्विरोध गौण रूप में कायम हुआ है। देशी पूँजीपतियों में केवल उद्योगपति नही हैं, शहरों और गाँवों में फैले हुए सूदखोर महाजन भी हैं। अंग्रेजी शासनतन्त्र से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। जो उद्योगपति थे, वे भी जब-तब विदेशी पूँजीवाद से सहयोग करके अपना धन्धा चमकाने के फिराक में रहते थे।

पूँजीवादी विचारधारा की विशेषता यह थी कि वह नैतिक मूल्यों की समस्या को वर्गों से हटाकर व्यक्तियों में केन्द्रित कर देती थी। महाजन गरीब किसानों को कर्ज देता है, कर्ज न अदा कर पाने पर तरह-तरह से किसानों को सताता है। यदि उसका हृदय परिवर्तन हो जाए तो वह किसानों को सताना छोड़ दे। प्रेमचन्द नैतिक मूल्यों को समाज में वर्गों की स्थिति से जोड़ते हैं। भारतीय साहित्य में वह एक नया क्रान्तिकारी दृष्टिकोण लेकर आए थे, यह तथ्य सेवासदन में ही स्पष्ट हो गया था। वेश्यावृत्ति के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा था : ''जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राजकर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमंडी क्यों न आबाद हो? हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहाँ जा सकता है? जिस दिन नजराना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अन्त होगा, उसी दिन दालमंडी उजड़ जाएगी, ये चिड़ियाँ उड़ जाएँगी–पहले नहीं।'' नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए समाज व्यवस्था को बदलना जरूरी है। प्रेमचन्द साहित्य के काफी बड़े हिस्से में पूँजीवादी नैतिकता की आलोचना फैली हुई है।

प्रगतिशील लेखकों में जो सुधारवादी हैं, वे इस आलोचना पर कम ध्यान देते हैं। प्रेमचन्द के दूसरे अध्याय में मैंने लिखा था : 'प्रेमचन्द का विश्लेषण छिछला और सुधारवादी न होकर क्रान्तिकारी और सामाजिक व्यवस्था की जड़ पर ही आघात करने वाला हो जाता है।'' सुधारवादी और क्रान्तिकारी विश्लेषणों का यह भेद सन् 40-41 के लिए प्रासंगिक था, पचास साल बाद वह सन् 90-91 के लिए और भी प्रासंगिक है। इस अवधि मे सुधारवाद घटा नहीं, बढ़ा है। उसकी जड़ें पूँजीवादी विचारधारा में हैं।

प्रेमचन्द देशी पूँजीवाद को आलोचनात्मक निगाह से देखते थे। जहाँ कांग्रेसी नेता साम्राज्यवाद से लड़ते थे, वहाँ प्रेमचन्द उनका समर्थन करते थे; जहाँ उससे समझोता करते थे, वहाँ प्रेमचन्द कसकर उनकी आलोचना करते

थे। वामपक्ष यदि साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद को समान रूप से शत्रु माने, एक साथ दोनों को खत्म करना चाहे, तो यह बहुत बड़ी गलती होगी। साथ ही देशी पूँजीवाद के साथ वह संयुक्त मोर्चा बनाने के नाम पर उसका पिछलगुआ बन जाए, तो यह भी बहुत बड़ी गलती होगी। कारण यह कि जब देशी पूँजीवाद अपनी ढुलमुल नीति के कारण साम्राज्यवाद से समझौता करेगा, तब वामपक्ष, अपनी स्वतन्त्र कार्यवाही के अभाव में, उसका अनुसरण करने को बाध्य होगा। स्वतन्त्र कार्यवाही में सबसे पहले होगा किसानों का संगठन और उनका सामंत-विरोधी संघर्ष।

'प्रेमचन्द' की भूमिका में मैंने लिखा था : ''प्रेमचन्द के युग को देखते हुए हम कह सकते हैं कि क्या राजनीति में, क्या साहित्य में, उस समय उन्हीं का व्यक्तित्व सबसे अधिक क्रान्तिकारी था।'' क्रान्तिकारी इसलिए था कि उन्होंने किसानों के उत्पीड़न पर ध्यान केन्द्रित किया था। उस समय मार्क्सवादी कार्यकताओं ने कुछ बड़े नगरों के मजदूरों को संगठित किया था पर किसानों में उनका काम, सन् 36 तक, नहीं के बराबर था। राजनीति में प्रेमचन्द का व्यक्तित्व सबसे अधिक क्रान्तिकारी था इन्हीं किसानों के सन्दर्भ के कारण, न केवल गाँधीवादियों की तुलना में, वरन् मार्क्सवादियों की तुलना में भी। सन् 36 तक के भारतीय साहित्य को देखें तो प्रेमचन्द से अधिक यथार्थवाद का विकास और किसी साहित्यकार ने न किया था। इस यथार्थवाद का सुदृढ़ आधार किसानों का जीवन था। समस्याओं का समाधान खोजने में प्रेमचन्द आदर्शवाद की ओर झुकते थे पर किसानों की वास्तविक दशा का चित्रण करने में वह यथार्थ को रंग चुनकर पेश न करते थे। उनके साहित्य में बहुत तरह के किसान हैं। यह भी उनकी कलात्मक उपलब्धि हैं। वह किसानों के अन्धविश्वासों, उनकी निष्क्रियता का चित्रण करते हैं, उनकी कर्मठता और जीवट का भी। उनकी विचारधारा में असंगतियाँ हैं, वह क्रान्तिकारी हैं अपने यथार्थवादी चित्रण के कारण।

प्रेमचन्द के दूसरे अध्याय का शीर्षक है 'महाजनी सभ्यता'। प्रेमचन्द ने कहाँ-कहाँ कैसे देशी पूँजीवाद की आलोचना की है, इसकी रूपरेखा इस अध्याय में है। एक अध्याय का शीर्षक है 'राजनीतिक आन्दोलन'। स्वाधीनता आन्दोलन में पूँजीपतियों, जमींदारों, किसानों की भूमिकाएँ अलग-अलग तरह की थीं, यह इस अध्याय में देखा जा सकता है। किसानों की आर्थिक माँगों के आधार पर संचालित होने पर स्वाधीनता आन्दोलन कैसे शक्तिशाली हो सकता है, इसकी ओर संकेत भी है। इस अध्याय के आरम्भ में मैंने लिखा है कि प्रेमचन्द ने ''कभी भी कौंसिलों में जाकर किसी रचनात्मक कार्यक्रम की सफलता में विश्वास नहीं किया।'' यह बात सही नहीं है। प्रेमाश्रम के अन्त में ऐसे ही कार्यक्रम की सफलता चित्रित है।

'महाजनी सभ्यता' वाले अध्याय में मैंने लिखा है : ''अंग्रेजों ने आकर हिन्दुस्तान में एक नई शिक्षा फैलाई और उससे महाजनी सभ्यता की जड़ जमी। साथ ही वे अपने साथ नए उद्योग-धन्धे भी लाए, जिन्होंने देशी उत्पादन के साधनों में क्रान्ति कर दी।'' गाँवों में फैला हुआ देशी उत्पादन का बहुत बड़ा हिस्सा इस 'क्रान्ति' से बाहर था। अंग्रेजों ने शहरों में जो कारखाने लगाए, अधिकतर उनमें पूँजी उन्हीं की थी और जो मुनाफा कमाते थे, उसे वे विलायत भेज देते थे। उन्हें भारत में विलायती माल की बिक्री से दिलचस्पी थी, यहाँ के कारखानों में देशी माल के उत्पादन से नहीं। भारत में जो थोड़ा-बहुत औद्योगिक विकास हुआ, वह मुख्यतः स्वदेशी आन्दोलन का परिणाम था। अंग्रेजों की शिक्षा नीति से उनका शासन यहाँ सुदृढ़ हुआ, देशी पूँजीवाद को उससे अल्प मात्रा में ही लाभ हुआ।

अंग्रेजों ने भारतीय पूँजीपतियों में कुछ को अपना भागीदार बनाया और उनकी सहायता से लूट का धन बाहर भेजते रहे। इनकी साँठ-गाँठ कुछ राष्ट्रीय नेताओं से भी थी। प्रेमचन्द ने देवीदीन के माध्यम से इनकी तीखी आलोचना की थी। ''गरीबों को लूटकर विलायत का घर भरना तुम्हारा काम है।'' उस आलोचना का सारांश यह है।

1991 में इराक पर अमरीकी विजय के बाद भारत सरकार ने विदेशी पूँजी के लिए अर्थतन्त्र के प्रवेश द्वार खोल दिए, क्या यह एकदम नया घटनाक्रम था? नया जरूर था पर एकदम नया नहीं था। विदेशी पूँजीवाद से अनेक प्रभावशाली भारतीय पूँजीपतियों के घनिष्ठ सम्बन्ध सन् 47 के पहले थे, उसके बाद भी बने रहे। सन् 37 में प्रमुख कांग्रेसी नेताओं ने पहले अंग्रेजों के बनाए कानून का विरोध किया, फिर उसी के अनुसार चुनाव लड़कर उन्होंने अनेक प्रान्तों में मन्त्रिमंडल बनाए। अपने शासनकाल में किसानों और मजदूरों के आन्दोलनों से निपटने में उन्होंने अपनी जनविरोधी नीति बहुत स्पष्ट कर दी। प्रेमचन्द पुस्तक की पृष्ठभूमि में यह सारा घटनाक्रम था। सन् 39-40 में कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेसी नेताओं की तीव्र आलोचना करने के साथ स्वतन्त्र कार्यवाही की दिशा में बढ़ रही थी। सन् 29-30 में भी वह कांग्रेसी नेताओं की तीखी आलोचना करती रही थी। उस आलोचना में और दस साल बाद भी इस आलोचना में बड़ा फर्क था।

कम्युनिस्ट पार्टी अब जानती थी कि मुख्य शत्रु ब्रिटिश साम्राज्यवाद है। पार्टी का तात्कालिक लक्ष्य भारतीय पूँजीवाद को समाप्त करना नहीं था। सन् 34 से वह कांग्रेस के साथ मिलकर काम करती आई थी, अब भी कर रही थी, पर वह पूँजीवादी नेताओं का पिछलगुआ बनने को तैयार नहीं थी। सन् 41 में, कांग्रेसी नेताओं की आलोचना करते हुए कई लेख मैंने हंस में लिखे थे। यदि कम्युनिस्ट पार्टी अपनी स्वतन्त्र कार्यवाही जारी रखती, कांग्रेस के साथ काम करते हुए भी किसानों के संगठन की ओर अधिक ध्यान देती तो वह देश को वैकल्पिक नेतृत्व दे सकती थी। पर 43-44 में उसकी नीति बदल गई और वह कांग्रेस-लीग एकता के बल पर राष्ट्र को स्वाधीन करने का स्वप्न देखने लगी। सन् 37-40 वाले दौर का एक विशेष अनुभव ध्यान देने योग्य है।

सन् 35 के ब्रिटिश कानून के तहत जब कांग्रेस ने मन्त्रिमंडल बनाए, तब मुस्लिम लीग शक्तिशाली पार्टी के रूप में उभरकर सामने आई। अंग्रेजी राज में मुसलमानों की जो दुर्दशा हो रही थी, उसकी जिम्मेदारी अंग्रेजों ने कांग्रेस के सिर मढ़ दी। इस तरह साम्प्रदायिक नेताओं के सहयोग से अंग्रेज काफी हद तक शहरी हिन्दुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे से लड़ाने में सफल हुए। सन् 45-46 में कम्युनिस्ट पार्टी सही नीति पर चली और अनेक प्रदेशों में उसने क्रान्तिकारी जन आन्दोलनों का नेतृत्व किया। किन्तु पार्टी के भीतर सुधारवादी नेता काफी प्रभावशाली

थे। एक बार जब कांग्रेस ने मुस्लिम लीग से, वास्तव में ब्रिटिश साम्राज्यवाद से समझौता कर लिया, तब कम्युनिस्ट पार्टी उस समझौते को मंजूर करने के अलावा कोई वैकल्पिक नीति न दे सकी।

सन् 48 से 56 तक पार्टी जनवादी क्रान्ति के सही रास्ते पर चली। उसके बाद उसमें सुधारवादी रुझान फिर उभरे। इनका विरोध करने वाले हमेशा सही नीति पर नहीं चले, चीनी आक्रमण के समय उन्होंने गलत रुख अपनाया और पार्टी के विभाजित होने की जिम्मेदारी काफी हद तक उन पर है। सन् 70 के दशक में अमरीकी पूँजीवाद ब्रिटिश पूँजीवाद को धकियाता हुआ अपनी विश्व स्थिति को सुदृढ़ कर रहा था। इस दौर में भारत सरकार विदेशी पूँजीवाद से अनेक प्रकार के समझौते करती रही। इसके साथ ही भारत में सम्प्रदायवाद के नए-नए रूप प्रकट हुए और देश का राजनीतिक संकट गहरा होता गया। एक समझौता सन् 37 का, दूसरा सन् 47 का, तीसरा सन् 70 के दशक का, और चौथा सन् 94 का। हर बार समझौते के साथ सम्प्रदायवाद और अलगाववाद की ताकतें बढ़ीं। इसमें किसी को सन्देह न होना चाहिए कि नई आर्थिक नीति के रूप में कांग्रेसी सरकार ने साम्राज्यवाद से जो नया समझौता किया है, उसके बाद सम्प्रदायवाद और अलगाववाद की ताकतें पहले से ज्याद उपद्रव करेंगी।

आज की दुनिया और सूदखोर पूँजीवाद

राज्य सत्ता हमारे हाथ में हैं, विदेशी पूँजी को आने दो, हम जैसे चाहेंगे, वैसे आर्थिक विकास करेंगे—इस तरह का प्रचार जोरों पर है। सन् 70 के दशक में पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ के नेता भी यही कहते थे। उन्होंने विदेशी पूँजी को आने दिया। इस पूँजी के साथ ऐसे लोग भी आए जो समाजवाद के खुले शत्रु थे। अलगाववादियों को उन्होंने उत्साहित किया, उनके संगठित होने में सहायता की। नतीजा यह कि सोवियत संघ में समाजवाद तो खत्म हुआ ही, राष्ट्र के रूप में भी वह स्वयं छिन्न-भिन्न हो गया।

प्रेमचन्द ने 'महाजनी सभ्यता' में सोवियत संघ की समाजवादी व्यवस्था के बारे में लिखा था : ''दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज इस नई सभ्यता को कोस रही है, इसे शाप दे रही है। व्यक्ति स्वातंत्र्य, धर्म-विश्वास की स्वाधीनता और अन्तरात्मा के आदेश पर चलने की आजादी, वह इन सब की घातक, गला घोंट देने वाली बताई जा रही है। उस पर नए-नए लांछन लगाए जा रहे हैं, नई-नई हुरमतें तराशी जा रही हैं। वह काले से काले रंगों में रंगी जा रही हैं, कुत्सित से कुत्सित रूप में चित्रित की जा रही है। उन सभी साधनों से, जो पैसे वालों के लिए सुलभ हैं, काम लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है, पर सच्चाई है, जो इस सारे अन्धकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फेला रही है।'' प्रेमचन्द ने, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और सुब्रह्मण्य भारती ने, भारत के अनेक प्रमुख लेखकों ने, सोवियत संघ की नई व्यवस्था का स्वागत किया था। विश्वव्यापी पूँजीवादी प्रचार के विरुद्ध खड़े होकर उन्होंने उसका समर्थन किया था। उनका समर्थन उचित था, वह भ्रम और मोह का परिणाम नहीं था। हमें उनके इस समर्थन पर गर्व करना चाहिए।

रूस विरोधी प्रचार में ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका जैसे बड़े पूँजीवादी देश सबसे आगे थे। आज भी समाजवाद का विरोध करने में वे आगे हैं। इतिहास दोहराया जा रहा है, थोड़े से फर्क के साथ। कारखानों में माल बनाना और बाहर बेचना—यह ढंग पुराने पूँजीवाद का था। कारखानेदारों को उधार पूँजी देना और उसके सूद से धन बटोरना—यह पूँजीवाद का नया ढंग है। आज का विकसित पूँजीवाद सूदखोर है। वह इजारेदार भी है। उद्योग-धन्धों पर और कच्चे माल के स्रोतों पर वह अपना इजारा कायम करता है। दूसरे महायुद्ध के बाद इजारेदार पूँजीवाद के तीन केन्द्र बने—यूरोप, अमरीका और जापान। यूरोप में वित्त पूँजी सबसे ज्यादा जर्मनी के पास है। जर्मनी की तरह जापान के पास वित्त पूँजी खूब है, ऐटमी हथियार नहीं है। ऐसे हथियार सबसे ज्यादा अमरीका के पास हैं। अमरीका इजारेदार पूँजीवाद का नेता है। दूसरे महायुद्ध के बाद पूँजी का केन्द्रीकरण बहुत बड़े पैमाने पर हुआ है। इसका प्रतीक है विश्व बैंक। इस बैंक का सदर मुकाम अमरीका में है। इस बैंक के द्वारा अमरीका संसार के अधिकांश देशों के आर्थिक विकास की दिशा निर्धारित करता है। यह साम्राज्यवाद का नया रूप है।

इजारेदार पूँजीवाद ने पिछड़े हुए और विकासशील देशों के अर्थतन्त्र की बागडोर अपने हाथ में ली, फिर उसने समाजवादी देशों में घुसपैठ शुरू की। पिछले चालीस-पैंतालीस साल में इजारेदार पूँजीवाद और समाजवाद का अन्तर्विरोध और तीव्र हुआ। अमरीका ने दुनिया-भर में फौजी अड्डे कायम करके सोवियत संघ को जो घेर रखा है, वह इस अन्तर्विरोध का प्रमाण है। अमरीका को घेरने लायक फौजी अड्डे सोवियत संघ के पास नहीं है। वह अधिक-से-अधिक आत्मरक्षा के लिए एटमी हथियार बना सकता था। पूँजी का निर्यात करके उसके सूद से धन बटोरना न तो उसके बस में था, न उसके किसी सहयोगी के। दरअसल दूसरे महायुद्ध में सबसे ज्यादा तबाह सोवियत संघ हुआ था। युद्ध के बाद आठ-दस साल में विदेशी सहायता के बिना उसने अपने अर्थतन्त्र को बहाल कर लिया। उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन में कटौती करके ही वह आत्मरक्षा के लिए ऐटमी हथियार बना सकता था। पूँजी के निर्यात से बड़े पैमाने पर सूद कमाने का सवाल न था।

ऐसे समय में कुछ नए ढंग के मार्क्सवादी पैदा हुए। वे कहते थे—सोवियत संघ साम्राज्यवादी देश है। वे अमरीका को साम्राज्यवादी कहते थे पर मुख्य रूप से ध्यान केन्द्रित करते थे सोवियत संघ पर। अमरीका के पूँजीवादी प्रचारक सोवियत संघ को साम्राज्य कहते थे। इस तरह ये नए मार्क्सवादी अमरीकी प्रचार को ही नमक-मिर्च लगाकर दोहराते थे। इस कारण परोक्ष रूप में वे अमरीकी साम्राज्यवाद का समर्थन कर रहे थे।

मार्क्सवादियों की एक किस्म और थी। ये कहते थे, दुनिया का विकास इस ढंग से हो रहा है कि पूँजीवाद और समाजवाद का भेद व्यर्थ हो गया है, पूँजीवादी और समाजवादी, दोनों ही तरह के देश सामान्य आर्थिक सम्बन्धों में बँधे हुए हैं। इन्हें मिलकर अपना विकास करना चाहिए। मिलकर विकास करने का वास्तविक अर्थ विदेशी बैंकों से पैसा उधार लेना था। इनके पास तो उधार देने को कुछ था नहीं, ये केवल उधार ले सकते थे। इस तरह ये मार्क्सवादी भी सूद कमाने में बड़े महाजन देशों की मदद कर रहे थे।

मार्क्सवादियों की यह किस्म पहले यूगोस्लाविया में पैदा हुई, वहाँ से पूर्वी यूरोप, सोवियत संघ, चीन आदि देशों में पहुची। समाजवादी देशों ने जी खोलकर कर्ज लेना शुरू किया। इस नीति का एक ही परिणाम हो सकता था—वे बड़े महाजन देशों के आसामी बन गए। कर्ज चुकाने का सामर्थ्य इनमें था नहीं। अर्थतन्त्र को चलाने के लिए लगातार कर्ज लेते रहने के सिवा इनके पास कोई चारा न था। अपनी दिवालिया नीति को छिपाने के लिए उन्होंने समाजवादी व्यवस्था को दोष देना शुरू किया। उन्होंने कहा, आर्थिक सुधार लागू करके हम ये दोष दूर करेंगे।

फिर उन्होंने कहा, समाजवाद को सुधारा नहीं जा सकता। उसमें राज्य सत्ता की इजारेदारी होती है, सारा काम आदेशों के जरिए होता है, व्यक्ति की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है, इसलिए सभ्यता का तकाजा है कि मंडीतंत्र कायम किया जाए। मंडीतंत्र के लिए पूँजी चाहिए। घर में पूँजी थी नहीं। विदेशी पूँजी के बल पर ही मंडीतंत्र चल सकता था। इस तरह विदेशी पूँजी की आमद के साथ समाजवादी देश इजारेदार पूँजीवाद के उपनिवेश बनते गए।

जारशाही रूस में लेनिन ने बोल्शेविक पार्टी संगठित की, इसी पार्टी ने नवम्बर 1917 में पूँजीवादी सरकार का तख्ता उलटकर मजदूरों और किसानों की सत्ता कायम की, इसी पार्टी के नेतृत्व में सोवियत जनता ने देश में नए उद्योग-धन्धों का निर्माण किया, फिर हिटलर की फौजों को परास्त किया, युद्ध के बाद विदेशी सहायता लिए बिना अर्थतन्त्र को बहाल किया, इस पार्टी के नेतृत्व के कारण एक जमाने का पिछड़ा हुआ सोवियत संघ महाशक्ति कहलाया। यदि इस पार्टी में ऐसे लोग घुस आएँ जो भीतर-भीतर उसे खोखला कर दें, तो मानी बात है, कम्युनिस्ट पार्टी तो टूटेगी ही, उसके साथ सोवियत संघ भी टूट जाएगा।

सोवियत संघ में कम्युनिस्ट पार्टी भंग कर दी गई है और सोवियत संघ टूट रहा है।

लोग पूछते हैं : यह सब कैसे हुआ? जनता ने समाजवाद को क्यों नहीं बचाया?

विदेशी पूँजी की आमद के साथ कम्युनिस्ट नेताओं और जनता के बीच का फासला बढ़ता गया। पूँजी का उपयोग इन नेताओं के द्वारा ही होता था। इन्होंने सबसे पहले इसका उपयोग अपने जीवन स्तर को ऊपर उठाने में किया। ठीक पूँजीवादी देशों की तरह नेताओं का जीवन स्तर उठता गया, श्रमिक जनता का जीवन स्तर गिरता गया। रूमानिया के राष्ट्रपति चाउसेस्कू के आलीशान महल विदेशी पूँजी के सहयोग से बने थे, उन्हें बनाने में महाजनों ने चाउसेस्कू को खूब प्रोत्साहित किया था। इस तरह के नेताओं ने राज्य शक्ति कम्युनिस्ट पार्टी में केन्द्रित कर ली; जनसंस्थाएँ, सोवियतें, निष्क्रिय हो गईं। शक्ति के इस केन्द्रीकरण की शानदार मिसाल है गोर्बाचोव। वह सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव थे, और सोवियत संघ के राष्ट्रपति भी हैं। मौका पाते ही उन्होंने पार्टी की केन्द्रीय समिति भंग कर दी, और देश की सर्वोच्च सोवियत भी।

जनसंस्थाएँ यदि निष्क्रिय हो जाएँ, सत्ता कुछ नेताओं में केन्द्रित हो जाए, तो जनता ऐसे नेताओं की रक्षा के लिए क्यों लड़े? वास्तव में इस समय रूस में केवल क्रान्ति-विरोधी संगठित है। साम्राज्य-विरोधी कम्युनिस्ट असंगठित हैं। सन् 85 के बाद से गोर्बाचोव पार्टी और शासनतन्त्र से चुन-चुन कर साम्राज्यविरोधी कम्युनिस्टों को निकालते रहे। जो कम्युनिस्ट कट्टरपंथी कहलाते हैं, वे भी आर्थिक सुधारों का, अर्थात विदेशी पूँजी की आमद का, समर्थन करते हैं। साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनता को संगठित करने वाले कम्युनिस्ट रूस में मानो रह नहीं गए।

1905 की असफल क्रान्ति के बाद 1906 से 1914 तक लेनिन जिन अवसरवादियों से लड़े थे, वे सब 'मार्क्सवादी' थे, बोल्शेविक पार्टी के भीतर थे (उसके बाहर तो थे ही)। सशस्त्र विद्रोह की तारीख जिन नेताओं ने अखबारों में छपा दी थी, वे पार्टी की केन्द्रीय समिति के सदस्य थे। रूस में समाजवाद का निर्माण नहीं हो सकता—यह कहने वाले कम्युनिस्ट पार्टी के बड़े नेता थे। समाजवाद का विरोध करने वाले, कम्युनिस्ट पार्टी को उसके भीतर घुसकर तोड़ने वाले, उसके नेता बन सकते हैं, यह स्थिति सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास से प्रमाणित है। गोर्बाचोव ने समाजवाद को सुधारने के नाम पर उसका सफाया कर दिया तो यह कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है।

क्या सोवियत संघ में समाजवाद फिर से कायम होगा? अवश्य होगा। सोवियत संघ में अनेक जातियाँ रहती हैं। इनमें प्रमुख है रूसी जाति। अक्टूबर क्रान्ति से पहले भी उसकी अनेक उपलब्धियाँ महान थीं। क्रान्ति के बाद उसकी सारी सफलताएँ समाजवाद के साथ जुड़ी हुई हैं। महाशक्ति के पद से नीचे गिरकर, विदेशी महाजनों के आगे कर्ज के लिए झोली पसार कर उसे भारी अपमान सहना पड़ा है। यह अपमानित जीवन वह बहुत दिनों तक नहीं बिता सकती। रूसी जाति और सोवियत संघ की समस्त जातियों, के लिए प्रश्न केवल समाजवाद का नहीं है। यह उनकी स्वतन्त्रता का, उनके राष्ट्रीय आत्मसम्मान का प्रश्न है। और ये दोनों चीजें उन्हें फिर प्राप्त हो सकती है, केवल समाजवाद द्वारा।

पहले दो महाशक्तियाँ थीं। अब एक ही रह गई है। यह सूदखोरों, इजारेदारों की महाशक्ति है। इसके पास ढेरों ऐटमी हथियार हैं, नैतिक शक्ति रत्ती भर नहीं है। विकासशील देश और भूतपूर्व समाजवादी देश विदेशी बैंकों से कर्ज लेना बन्द कर दें, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के माल का बाईकाट शुरू कर दें, तो वह दो दिन में चीं बोल जाए। जनतन्त्र का ढोल पीटने वाला अमरीकी पूँजीवाद दुनिया पर अपनी डिक्टेटरशिप कायम कर रहा है। इस डिक्टेटरशिप को खत्म करने का मूल मंत्र है—स्वदेशी। भारत जितना ही आत्मनिर्भर बनेगा, उतना ही वह अपनी एकता और स्वाधीनता की रक्षा करने से समर्थ होगा, उतना ही साम्राज्यवादी दासता से विश्व जनता की मुक्ति में सहायक होगा। आगे आने वाले दिनों में हमारे महान लेखक प्रेमचन्द का साहित्य संघर्ष में प्रेरणा देगा, विजय में हमारी आस्था को दृढ़ करेगा। हमारे साहित्य की ओर हमारे राष्ट्रीय जीवन की सच्चाई एक दिन अवश्य सारे अन्धकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फैला देगी।

प्रेमचन्द/ डा. रामविलास शर्मा/ राधाकृष्ण प्रकाशन, 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूसरे संस्करण (1994) की भूमिका से साभार

विरासत : तीन

'कफन' कहानी का पहला पाठ

'कफन' कहानी की रचना मूलतः उर्दू में हुई थी, और उर्दू से ही इसका पहला प्रकाशन हुआ। यह कहानी 'जामिया' उर्दू मासिक पत्रिका के दिसम्बर, 1935 के अंक में छपी थी और उसके बाद 'चाँद' मासिक पत्रिका के अप्रैल, 1936 के अंक में प्रकाशित हुई। प्रेमचन्द ने स्वयं इसका हिन्दीकरण किया और हिन्दी पाठ में सौ से अधिक छोटे-बड़े परिवर्तन किए। हिन्दी में उर्दू कहानी 'कफन' के इस हिन्दी रूप को ही मौलिक कहानी माना गया और यह सवाल नहीं उठा कि 'कफन' को मौलिक, अनूदित, रूपान्तरित, पुनःसृजित आदि किस रूप में स्वीकार किया जाए, जबकि उर्दू में इसके विपरीत धारणाएँ मिलती हैं। 'कफन' कहानी के हिन्दी में पहली बार छपने के बाद अब तक इसके पाठ में प्रेस की कृपा से यत्र-तत्र कुछ परिवर्तन हुए हैं, इस कारण यहाँ पाठकों को 'चाँद' पत्रिका में छपा पाठ दिया जा रहा है जिससे इस मूल पाठ का रसास्वादन कर सकें और यह पाठ सुरक्षित भी रह सके।

प्रस्तुति : कमलकिशोर गोयनका

चाँद

कफन

[श्री० प्रेमचन्द]

झोंपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए हैं और अन्दर बेटे की जवान बीवी बुधिया प्रसव-वेदना से पछाड़ खा रही थी। रह-रह कर उसके मुँह से ऐसी दिल हिला देने वाली आवाज निकलती थी, कि दोनों कलेजा थाम लेते थे। जाड़ों की रात थी, प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई, सारा गाँव अन्धकार में लय हो गया था।

घीसू ने कहा—मालूम होता है, बचेगी नहीं। सारा दिन दौड़ते हो गया, जा देख तो आ।

माधव चिढ़ कर बोला—मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती? देख कर क्या करूँ?

"तू बड़ा बेदर्द है बे! साल भर जिसके साथ सुखचैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफ़ाई!"

"तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पाँव पटकना नहीं देखा जाता।"

चमारों का कुनबा था और सारे गाँव में बदनाम। घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम। माधव इतना कामचोर था कि आध घण्टे काम करता तो घण्टे भर चिलम पीता। इसलिए उन्हें कहीं मजदूरी नहीं मिलती थी। घर में मुट्ठी भर भी अनाज मौजूद हो, तो उनके लिए काम करने की क़सम थी। जब दो-चार फ़ाक़े हो जाते तो घीसू पेड़ पर चढ़ कर लकड़ियाँ तोड़ लाता और माधव बाज़ार से बेच लाता। और जब तक वह पैसे रहते, दोनों इधर-उधर मारे-मारे फिरते। जब फ़ाक़े की नौबत आ जाती, तो फिर लकड़ियाँ तोड़ते या मजदूरी तलाश करते। गाँव में काम की कमी न थी। किसानों का गाँव था, मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे। मगर इन दोनों को लोग उसी वक़्त बुलाते, जब दो आदमियों से एक का काम पाकर भी सन्तोष कर लेने के सिवा और कोई चारा न होता। अगर दोनों साधु होते, तो उन्हें सन्तोष और धैर्य के लिए संयम और नियम की बिलकुल जरूरत न होती। यह तो इनकी प्रकृति थी। विचित्र जीवन था इनका! घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवा कोई सम्पत्ति नहीं। फटे-चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढाँके हुए जिए जाते थे। संसार की चिन्ताओं से मुक्त! क़र्ज़ से लदे हुए। गालियाँ भी खाते, मार भी खाते, मगर कोई ग़म नहीं। दीन इतने कि वसूली की बिलकुल आशा न रहने पर भी लोग इन्हें कुछ न कुछ क़र्ज़ दे देते थे। मटर-आलू की फ़सल में दूसरों के खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते और भूनभान कर खा लेते या दस-पाँच ऊख उखाड़ लाते और रात को चूसते। घीसू ने इसी आकाश-वृत्ति से साठ साल की उम्र काट दी और माधव भी सपूत बेटे की तरह बाप ही के पद-चिन्हों पर चल रहा था, बल्कि उसका नाम और भी उजागर कर रहा था। इस वक़्त भी दोनों अलाव के सामने बैठ कर आलू भून रहे थे, जो कि किसी के खेत से खोद लाए थे। घीसू की स्त्री का तो बहुत दिन हुए, देहान्त हो गया था। माधव का ब्याह पिछले साल हुआ था। जब से यह औरत आई थी, उसने इस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी। पिसाई करके या घास छील कर वह सेरभर आटे का इन्तजाम कर लेती थी और इन दोनों बे-ग़ैरतों का दोजख भरती रहती थी। जब से वह आई, यह दोनों और भी आलसी और आरामतलब हो गये थे। बल्कि कुछ अक्खड़ने भी लगे थे। कोई कार्य करने को बुलाता, तो निर्व्याज भाव से दुगुनी मजदूरी

माँगते वही औरत आज प्रसव-वेदना से मर रही थी और वह दोनों शायद इसी इन्तज़ार में थे कि वह मर जाय, तो आराम से सोयें।

घीसू ने आलू निकाल कर छीलते हुए कहा—जाकर देख तो, क्या दशा है उसकी? चुड़ैल का क़िस्सा होगा, और क्या? यहाँ तो ओझा भी एक रुपया माँगता है।

माधव को भय था, कि वह कोठरी में गया, तो घीसू आलुओं का बड़ा भाग साफ़ कर देगा। बोला—मुझे वहाँ जाते डर लगता है।

"डर किस बात का है, मैं तो यहाँ हूँ ही।"

"तो तुम्हीं जाकर देखो न?"

"मेरी औरत जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला तक नहीं, और फिर मुझसे लजायेगी कि नहीं? जिसका कभी मुँह नहीं देखा, आज उसका उघड़ा हुआ बदन देखूँ! उसे तन की सुध भी तो न होगी? मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ-पाँव भी न पटक सकेगी?"

"मैं सोचता हूँ, कोई बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा? सोंठ, गुड़, तेल, कुछ भी तो नहीं है घर में!"

"सब कुछ आ जायगा। भगवान दें तो। जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं, वे ही कल बुलाकर रुपये देंगे। मेरे नौ लड़के हुए, घर में कभी कुछ न था; मगर भगवान ने किसी न किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया।"

जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी, और किसानों के मुक़ाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज़्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज़्यादा विचारवान था और किसानों के विचार-शून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाज़ों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था। हाँ, उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाज़ों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मण्डली के और लोग गाँव के सरग़ना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम से कम उसे किसानों की-सी जाँ-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती? और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फ़ायदा तो नहीं उठाते।

दोनों आलू निकाल-निकाल कर जलते-जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया था। इतना सब्र न था कि उन्हें ठंडा हो जाने दें। कई बार दोनों की ज़बानें जल गईं। छिल जाने पर आलू का बाहरी हिस्सा तो बहुत ज़्यादा गर्म न मालूम होता; लेकिन दाँतों के तले पड़ते ही अन्दर का हिस्सा ज़बान और हलक़ और तालू को जला देता था और उस अंगारे को मुँह में रखने से ज़्यादा ख़ैरियत इसी में थी कि वह अन्दर पहुँच जाय। वहाँ उसे ठण्डा करने के लिए काफ़ी सामान थे। इसलिए दोनों जल्द-जल्द निगल जाते। हालाँकि इस कोशिश में उनकी आँखों से आँसू निकल आते।

घीसू को उस वक़्त ठाकुर की बारात याद आई, जिसमें बीस साल पहले वह गया था। उस दावत में उसे जो तृप्ति मिली थी, वह उसके जीवन में एक याद रखने लायक़ बात थी, और आज भी उसकी याद ताज़ा थी। बोला—"वह भोज नहीं भूलता। तब से फिर उस तरह का खाना और भरपेट नहीं मिला। लड़की वालों ने सबको भरपेट पूड़ियाँ खिलाई थीं, सबको! छोटे-बड़े सबने पूड़ियाँ खाईं और असली घी की! चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, चटनी, मिठाई, अब क्या बताऊँ कि उस भोज में क्या स्वाद मिला। कोई रोक-टोक नहीं थी। जो चीज़ चाहो माँगो और जितना चाहो खाओ। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया, किसी से पानी न पिया गया। मगर परोसने वाले हैं कि पत्तल में गर्म-गर्म गोल-गोल सुवासित कचौड़ियाँ डाले देते हैं। मना करते हैं कि नहीं चाहिए, पत्तल पर हाथ से रोके हुए हैं, मगर वह हैं कि दिये जाते हैं। और जब सबने मुँह धो लिया, तो पान-इलायची भी मिली। मगर मुझे पान लेने की कहाँ सुध थी। खड़ा न हुआ जाता था। चटपट जाकर अपने कम्बल पर लेट गया। ऐसा दिल-दरियाव था वह ठाकुर!"

माधव ने इन पदार्थों का मन ही मन मज़ा लेते हुए कहा—अब हमें कोई ऐसा भोज नहीं खिलाता।

"अब कोई क्या खिलाएगा ? वह जमाना दूसरा था। अब तो सबको किफायत सूझती है। सादी-ब्याह में मत खर्च करो, क्रिया-कर्म में मत खर्च करो, पूछो, गरीबों का माल बटोर-बटोर कर कहाँ रखोगे। बटोरने में तो कमी नहीं है। हाँ, खर्च में किफायत सूझती है।"

"तुमने एक बीस पूड़ियाँ खाई होंगी ?"

"बीस से ज्यादा खाई थीं।"

"मैं पचास खा जाता !"

"पचास से कम मैंने भी न खाई होंगी। अच्छा पट्ठा था। तू तो मेरा आधा भी नहीं है।"

आलू खाकर दोनों ने पानी पिया, और वहीं अलाव के सामने अपनी धोतियाँ ओढ़कर पाँव पेट में डाले सो रहे। जैसे दो बड़े-बड़े अजगर गेंडुलियाँ मारे पड़े हों।

और बुधिया अभी तक कराह रही थी।

२

सवेरे माधव ने कोठरी में जाकर देखा, तो उसकी स्त्री ठण्डी हो गई थी। उसके मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पथराई हुई आँखें ऊपर टँगी हुई थीं। सारी देह धूल से लथपथ हो रही थी। उसके पेट में बच्चा मर गया था।

माधव भागा हुआ घीसू के पास आया। फिर दोनों जोर-जोर से हाय-हाय करने और छाती पीटने लगे। पड़ोस वालों ने यह रोना-धोना सुना, तो दौड़े हुए आए और पुरानी मर्यादा के अनुसार इन अभागों को समझाने लगे।

मगर ज्यादा रोने-पीटने का अवसर न था। कफ़न की और लकड़ी की फ़िक्र करनी थी। घर में तो पैसा इस तरह ग़ायब था, जैसे चील के घोंसले में मांस।

बाप-बेटे रोते हुए गाँव के जमींदार के पास गए। वह इन दोनों की सूरत से नफ़रत करते थे। कई बार इन्हें अपने हाथों से पीट चुके थे। चोरी करने के लिए, वादे पर काम पर न आने के लिए। पूछा—क्या है बे घिसुआ, रोता क्यों है ? अब तो तू कहीं दिखाई भी नहीं देता। मालूम होता है, इस गाँव में रहना नहीं चाहता।

घीसू ने जमीन पर सिर रख कर आँखों में आँसू भरे हुए कहा—सरकार ! बड़ी विपत्ति में हूँ। माधव की घरवाली रात को गुजर गई। रात भर तड़पती रही सरकार ! हम दोनों उसके सिरहाने बैठे रहे। दवा-दारू जो कुछ हो सका, सब कुछ किया, मुदा वह हमें दगा दे गई। अब कोई एक रोटी देने वाला भी न रहा मालिक ! तबाह हो गये। घर उजड़ गया। आपका गुलाम हूँ, अब आपके सिवा कौन उसकी मिट्टी पार लगाएगा। हमारे हाथ में तो जो कुछ था, वह सब तो दवा-दारू में उठ गया। सरकार ही की दया होगी तो उसकी मिट्टी उठेगी। आपके सिवा किसके द्वार पर जाऊँ !

जमींदार साहब दयालु थे। मगर घीसू पर दया करना काले कम्बल पर रंग चढ़ाना था। जी में तो आया, कह दें, चल, दूर हो यहाँ से; यों तो बुलाने से भी नहीं आता, आज जब गरज पड़ी तो आकर खुशामद कर रहा है। हरामखोर कहीं का बदमाश ! लेकिन यह क्रोध या दण्ड का अवसर न था। जी में कुढ़ते हुए दो रुपए निकाल कर फेंक दिये। मगर सान्त्वना का एक शब्द भी मुँह से न निकाला। उसकी तरफ़ ताका तक नहीं। जैसे सिर का बोझ उतारा हो।

जब जमींदार साहब ने दो रुपये दिए, तो गाँव के बनिए महाजनों को इनकार का साहस कैसे होता। घीसू जमींदार के नाम का ढिंढोरा भी पीटना जानता था। किसी ने दो आने दिए, किसी ने चार आने। एक घण्टे में घीसू के पास पाँच रुपए की अच्छी रकम जमा हो गई। कहीं से अनाज मिल गया, कहीं से लकड़ी। और दोपहर को घीसू और माधव बाजार से कफ़न लाने चले। इधर लोग बाँस-वाँस काटने लगे।

गाँव की नर्म दिल स्त्रियाँ आ-आकर लाश को देखती थीं, और उसकी बेकसी पर दो बूँद आँसू गिरा कर चली जाती थीं।

३

बाजार में पहुँच कर घीसू बोला—लकड़ी तो उसे जलाने भर को मिल गई है, क्यों माधव !

माधव बोला—हाँ, लकड़ी तो बहुत है, अब कफ़न चाहिए।

"तो चलो, कोई हलका-सा कफ़न ले लें।"

"हाँ और क्या! लाश उठते-उठते रात हो जायगी। रात को कफन कौन देखता है!"

"कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढाँकने को चीथड़ा भी न मिले उसे मरने पर नया कफन चाहिए।"

"कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है।"

"और क्या रखा रहता है? यही पाँच रुपए पहले मिलते, तो कुछ दवा-दारू कर लेते।"

दोनों एक दूसरे के मन की बात ताड़ रहे थे। बाजार में इधर-उधर घूमते रहे। कभी इस बजाज की दूकान पर गए, कभी उसकी दूकान पर। तरह-तरह के कपड़े, रेशमी और सूती देखे, मगर कुछ जँचा नहीं। यहाँ तक कि शाम हो गई। तब दोनों न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने आ पहुँचे और जैसे किसी पूर्व-निश्चित व्यवस्था से अन्दर चले गये। वहाँ जरा देर तक दोनों असमंजस में खड़े रहे। फिर घीसू ने गद्दी के सामने जाकर कहा—साहु जी, एक बोतल हमें भी देना।

इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछलियाँ आईं और दोनों बरामदे में बैठकर शान्तिपूर्वक पीने लगे।

कई कुज्जियाँ ताबड़तोड़ पीने के बाद दोनों सरूर में आ गये।

घीसू बोला—कफन लगाने से क्या मिलता? आखिर जल ही तो जाता? कुछ बहू के साथ तो न जाता।

माधव आसमान की तरफ देखकर बोला, मानो देवताओं को अपनी निष्पापता का साक्षी बना रहा हो—दुनिया का दस्तूर है, नहीं लोग बाँभनों को हजारों रुपये क्यों दे देते हैं। कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं।

"बड़े आदमियों के पास धन है, फूँकें। हमारे पास फूँकने को क्या है?"

"लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे? लोग पूछेंगे नहीं! कफन कहाँ है?"

घीसू हँसा—अबे कह देंगे कि रुपये कमर से खिसक गये। बहुत ढूँढ़ा, मिले नहीं। लोगों को विश्वास तो न आयेगा, लेकिन फिर वही रुपये देंगे।

माधव भी हँसा—दूत अन्वेक्षित सौभाग्य पर। बोला—बड़ी अच्छी थी बेचारी। मरी भी तो खूब खिला-पिला कर।

आधी बोतल से ज्यादा उड़ गई। घीसू ने दो सेर पूड़ियाँ मँगाईं। चटनी, अचार, कलेजियाँ। शराबखाने के सामने ही दूकान थी। माधव लपक कर दो पत्तलों में सारे सामान ले आया। पूरा डेढ़ रुपया खर्च हो गया। सिर्फ थोड़े से पैसे बच रहे।

दोनों इस वक्त इस शान से बैठे हुए पूड़ियाँ खा रहे थे जैसे जंगल में कोई शेर अपना शिकार उठा रहा हो। न जवाबदेही का खौफ था, न बदनामी की फिक्र। इन भावनाओं को उन्होंने बहुत पहले ही जीत लिया था।

घीसू दार्शनिक भाव से बोला—हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है, तो क्या उसे पुण्य न होगा?

माधव ने श्रद्धा से सिर झुकाकर तसदीक की—जरूर से जरूर होगा। भगवान, तुम अन्तर्यामी हो। उसे बैकुण्ठ ले जाना। हम दोनों हृदय से उसे आशीर्वाद दे रहे हैं। आज जो भोजन मिला वह कभी उम्र भर न मिला था।

एक क्षण के बाद माधव के मन में एक शंका जागी। बोला—क्यों दादा, हम लोग भी तो एक न एक दिन वहाँ जायेंगे ही।

घीसू ने इस भोलेभाले सवाल का कुछ उत्तर न दिया। वह परलोक की बातें सोचकर इस आनन्द में बाधा न डालना चाहता था।

"जो वहाँ वह हम लोगों से पूछे कि तुमने हमें कफन क्यों नहीं दिया तो क्या कहोगे?"

"कहेंगे तुम्हारा सिर!"

"पूछेगी तो जरूर!"

"तू कैसे जानता है कि उसे कफन न मिलेगा? तू मुझे ऐसा गधा समझता है? साठ साल क्या दुनिया में घास खोदता रहा हूँ। उसको कफन मिलेगा और इससे बहुत अच्छा मिलेगा।"

माधव को विश्वास न आया। बोला—कौन देगा? रुपये तो तुमने चट कर दिये। वह तो मुझसे पूछेगी। उसकी माँग में तो सेंदुर मैंने डाला था।

घीसू गर्म होकर बोला—मैं कहता हूँ, उसे कफन मिलेगा, तू मानता क्यों नहीं ?

"कौन देगा, बताते क्यों नहीं ?"

"वही लोग देंगे, जिन्होंने कि अबकी दिया। हाँ, अबकी रुपये हमारे हाथ न आयेंगे।"

ज्यों-ज्यों अँधेरा बढ़ता था और सितारों की चमक तेज होती थी, मधुशाला की रौनक भी बढ़ती जाती थी। कोई गाता था, कोई डींग मारता था, कोई अपने संगी के गले लिपटा जाता था। कोई अपने दोस्त के मुँह में कुल्हड़ लगाये देता था।

वहाँ के वातावरण में सरूर था, हवा में नशा। कितने तो यहाँ आकर एक चुल्लू में मस्त हो जाते थे। शराब से ज्यादा यहाँ की हवा उन पर नशा करती थी। जीवन की बाधाएँ यहाँ खींच लाती थीं और कुछ देर के लिए यह भूल जाते थे कि वे जीते हैं या मरते हैं। या न जीते हैं न मरते हैं।

और यह दोनों बाप-बेटे अब भी मजे ले-लेकर चुस-कियाँ ले रहे थे। सबकी निगाहें इनकी ओर जमी हुई थीं। दोनों कितने भाग्य के बली हैं। पूरी बोतल बीच में है।

भरपेट खाकर माधव ने बची हुई पूड़ियों का पत्तल उठा कर एक भिखारी को दे दिया। जो खड़ा इनकी ओर भूखी आँखों से देख रहा था। और 'देने' के गौरव, आनन्द और उल्लास का अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया।

घीसू ने कहा—ले जा, खूब खा और आशीर्वाद दे। जिसकी कमाई है, वह तो मर गई। मगर तेरा आशीर्वाद उसे जरूर पहुँचेगा। रोयें-रोयें से आशीर्वाद दो, बड़ी गाढ़ी कमाई के पैसे हैं।

माधव ने फिर आसमान की तरफ देख कर कहा—वह बैकुण्ठ में जायगी दादा, बैकुण्ठ की रानी बनेगी।

घीसू खड़ा हो गया और जैसे उल्लास की लहरों में तैरता हुआ बोला—हाँ बेटा, बैकुण्ठ में जायगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी जिन्दगी की सब से बड़ी लालसा पूरी कर गई। वह न बैकुण्ठ में जायगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जायेंगे, जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं। और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मन्दिरों में जल चढ़ाते हैं।

श्रद्धालुता का यह रंग तुरन्त ही बदल गया। अस्थि-रता नशे की खासियत है। दुःख और निराशा का दौरा हुआ।

माधव बोला—मगर दादा, बेचारी ने जिन्दगी में बड़ा दुख भोगा। कितना दुख झेल कर मरी।

वह आँखों पर हाथ रख कर रोने लगा, चीखें मार-मार कर।

घीसू ने समझाया—क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि वह माया-जाल से मुक्त हो गई। जंजाल से छूट गई। बड़ी भाग्यवान थी, जो इतनी जल्द माया-मोह के बन्धन तोड़ दिये।

और दोनों खड़े होकर गाने लगे—

"ठगिनी क्यों नैना झमकावे! ठगिनी०!"

पियक्कड़ों की आँखें इनकी ओर लगी हुई थीं और यह दोनों अपने दिल में मस्त गाये जाते थे। फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी। गिरे भी, मटके भी। भाव भी बताये। अभिनय भी किये। और आखिर नशे से बदमस्त होकर वहीं गिर पड़े।

('चाँद', अक्टूबर, 1936)

एक कंठ विषपायी : पं. शिवचन्द्र शर्मा विद्याभूषण

स्मरण

विद्याभूषण जी का संस्मरण मिलने के कुछ ही दिनों बाद दिनकरजी की डायरी में शिवचन्द्र शर्मा जी से सम्बन्धित एक प्रसंग मुझे मिला, जिसे उनकी पुस्तक–'व्यक्तिगत निबंध और डायरी' से साभार दिया जा रहा है। ताकि पाठक पं. शिवचंद्र शर्मा के महत्व को समझ सकें
–संपादक

12 जून, 1972 (पटना)

श्री शिवचन्द्र शर्मा अस्पताल में हैं। बाईस मई को मैंने इन्दिराजी को पत्र लिखा था कि शर्माजी के इलाज के लिए आप कृपा करके प्रधानमंत्री कोष से एक हजार रुपये भेज दें। आज प्रधानमंत्री के सचिवालय से पाँच सौ रुपये का ड्राफ्ट मेरे नाम से आया। मैंने ड्राफ्ट को अपने खाते में जमाकर दिया और पाँच सौ रुपये नकद मैं अस्पताल जाकर शिवचन्द्रजी को दे आया।

जब ब्रजशंकरजी भयानक रूप से बीमार थे, तब भी इन्दिराजी ने मेरे अनुरोध पर उन्हें दो हजार रुपये भेज दिए थे।

एक बार जब बाबू शिवपूजन सहाय जोर से बीमार पड़े थे, तब मैंने राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद को पत्र लिखा था कि शिवजी के इलाज के लिए दो हजार रुपयों की सख्त जरूरत है। राजेंद्र बाबू ने उस समय अपने कोष से सिर्फ दो सौ रुपये भेजे थे, लेकिन मेरा पत्र उन्होंने पंडित जवाहरलाल नेहरू को भेज दिया था। पंडितजी ने अविलम्ब दो हजार रुपये का ड्राफ्ट श्री ब्रजशंकर वर्मा के नाम से भिजवा दिया था, जो उस समय बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति थे। उन्हीं रुपयों से उस बार शिवजी का इलाज हो सका था।

शिवचन्द्रजी को कुछ सहायता देने के लिए एक पत्र मैंने अपने यहाँ के राज्यपालजी को भी लिखा था। किन्तु इस प्रार्थना का अभी तक कोई परिणाम नहीं निकला है।

शिवचन्द्र शर्मा जी को जब भी मैं याद करता हूँ, सहचर्या के दृश्य-चित्रों का एक कोलाज मेरे सामने खुलने लगता है– एक जुझारू आदमी की दर्द भीगी मुस्कुराहट से लेकर साहित्य की अनौपचारिक बैठकबाजी में गूँजते हुए मुक्त अट्टाहस तक। एक परिश्रमी सम्पादक, श्रमजीवी लेखक, बेलौस पत्रकार और अच्छे इंसान से सान्निध्य के लगभग दस वर्षों के सैंकड़ों प्रसंग मुझे आन्दोलित करने लगते हैं।

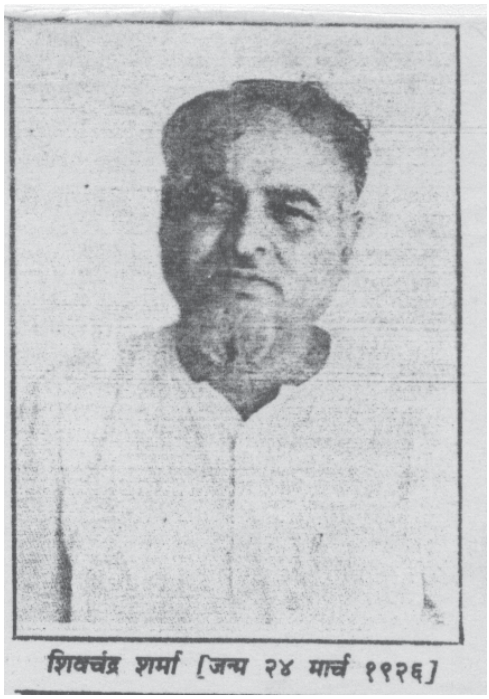

शिवचंद्र शर्मा [जन्म २४ मार्च १९२६]

मैं आज भी यह तय नहीं कर पाता कि शिवचन्द्र जी में ऐसा कुछ क्या था कि हमेशा समस्याओं और विवादों से घिरे होने के बावजूद उनके आत्मीय सम्बन्धों का दायरा बहुत बड़ा था! क्यों उनके प्रशंसकों और मित्रों की संख्या निन्दकों और आलोचकों से बड़ी थी? शायद वैचारिक प्रतिबद्धताओं से जिद्दी मोह रखते हुए भी व्यक्तिगत सम्बन्धों के धरातल पर उनमें एक सहज खुलापन और बेबाकी ही थी जो उनके जटिल व्यक्तित्व को उदार सहिष्णुता और लचीली मानवीयता देती थी।

खादी का ढीला-ढाला सफेद कुर्ता-पायजामा, पाँवों में चमड़े की चप्पल, सिर पर नेपाली टोपी और गोरी ठुड्डी पर घनी दाढ़ी और किसी परिचित से दृष्टि मिलते ही अनायास होठों पर आ जाती हार्दिक मुस्कान। राँची के एक दशकीय प्रवास में यही था शिचन्द्र जी का बहिरंग। उनके अन्तरंग को खोलने के लिए मैं अपने मन की अंगीठी में ठंडी पड़ती राख की परतों को बार-बार कुरेद रहा हूँ तो एक विलक्षण अनुभव मुझे चकित कर रहा है कि उनकी पहचान स्थापित करना कितना कठिन काम है! मैं जब भी कोई वृत्त खींचता हूँ तो पाता हूँ कि उनका कोई-न-कोई पहलू

मुझसे छूटा जा रहा है।

दिवंगत व्यक्तियों को कोरे महामानव के रूप में याद करने की परम्परा के प्रति मेरी श्रद्धा कभी नहीं रही है। अक्सर साफगोई से काम लेना नहीं चाहते हम सब, और प्रायः अपने संस्कारों के वशीभूत होकर एक ऐसा प्रभा मंडल रचने में जुट जाते हैं जिसमें अभिनन्दन और आडम्बर के तमाम ताम-झाम इकट्ठे हो जाते हैं, सिवा उस व्यक्ति के, जो हाड़-माँस के संवेदनशील पुतले के रूप में हमारे बीच क्रियाशील रहता है।

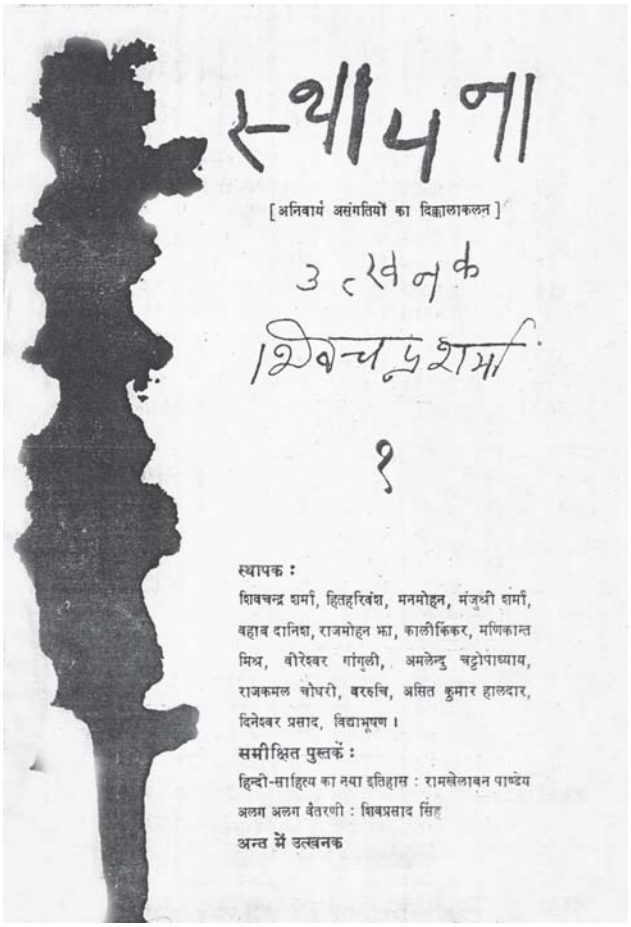

शिवचन्द्र शर्मा हिन्दी के उन गिने-चुने लेखकों में थे जिन्हें कम उम्र में अकाल मृत्यु प्राप्त हुई। सिर्फ सैंतालीस साल उन्हें मिले थे जिन्दगी के, कि मौत खींच ले गई उनको। उनकी जीवन यात्रा वस्तुतः एक साहित्य यात्रा थी। तेरह वर्ष की कच्ची उम्र से जीवन को साहित्य और साहित्य को जीवन मानकर चलने वाले शिवचन्द्र जी का पूरा जीवन कठोर संघर्ष में बीता। विद्वान और अनुशासनप्रिय किन्तु हृदयहीन पिता की सख्ती ने उन्हें एक विद्रोही व्यक्तित्व दिया था। पटना, बनारस, दिल्ली, राँची और पुनः पटना के विभिन्न पड़ावों पर वे आजीवन युद्धरत रहे। पारिवारिक दायित्वों को निभाने की चुनौतियों के बीच अर्थाभाव को स्नेह से पाटने की कोशिशों में लगे रहे और साहित्य देवता के प्रति एकान्त समर्पित रहकर हृदय रोग, मधुमेह और चिन्ताओं से लगातार जूझते हुए वे अन्त तक क्रियाशील बने रहे। हिन्दी में वे उस पीढ़ी के साहित्यकार थे, जिसके लिए साहित्य शौक भर नहीं रहा कभी, कैरियर भी नहीं, बल्कि जीवन की केन्द्रीय चिन्ता के रूप में एक सहचर रहा– आदर्श और कर्म से एकाकार। उन्होंने आजीविका के लिए कलमगीरी से बाहर जाकर समझौते नहीं किए और इसका खामियाजा ताउम्र भुगतते रहे। जाहिर है, वे साहित्य में पार्टटामइर नहीं थे, चूँकि साहत्य से ही उन्होंने जीवन की परिभाषा सीखी थी।

सन् 1965 में राँची में कचहरी पथ पर स्थित अभिज्ञान प्रकाशन परिसर घर-बाहर के साहित्यकारों के जुड़ने-जुटने के केन्द्र के रूप में बड़ी प्रतिष्ठा अर्जित कर चुका था। उन दिनों राँची में युवा लेखकों की एक टोली पूरी सक्रियता के साथ काम कर रही थी। तत्कालीन पत्रिकाओं में कृष्णचन्द्र चौधरी 'किट्टू' सी. भास्कर राव, विद्याभूषण, काली किंकर, मदनमोहन तरुण और सुरेश नियमित लिख रहे थे। तब अभिज्ञान प्रकाशन और उसके अनुसंगी पुस्तक भवन में साहित्य सलाहकार के बतौर कार्यरत थे काशीनाथ पाण्डेय जो खुद धारदार युवा लेखक थे। यह वही अभिज्ञान प्रकाशन था जिसके स्वत्वाधिकारी भुवनेश्वर प्रसाद सिंह राधाकृष्ण, नागार्जुन, त्रिलोचन, राजकमल चौधरी जैसे कलमकारों का यथावसर आतिथ्य सत्कार उत्साहपूर्वक किया करते थे। उन दिनों पुस्तक भवन-अभिज्ञान के कार्यालय परिसर में राँची के युवा लेखकों की ज्यादातर शामें गुजरती थीं। यहीं शिवचन्द्र जी से हमारी यानी मेरी मित्र मण्डली की पहली मुलाकात हुई। इसी इमारत की छत पर एक कमरे में उनका और उनकी 'स्थापना' का कैम्प-कार्यालय था। उन दिनों शिवचन्द्र शर्मा की कविता पुस्तक अभिज्ञान से छप रही थी, और मैं त्रैमासिक 'क्रमशः' के प्रवेशांक की तैयारी कर रहा था। शुरू में शर्मा जी से हम लोग दूर-दूर ही रहे। उनके जीने-रहने के अजीबोगरीब अन्दाज से हमारी पटरी नहीं बैठ पाई थी। 'क्रमशः' के प्रवेशांक के छपते-छपते 'कविताएँ शिवचन्द्र शर्मा की' पुस्तक पूरी छप चुकी थी। मैंने 'क्रमशः' में उसकी तीखी समालोचना लिखकर छाप दी।

मुझे आशंका थी कि शिवचन्द्र जी मेरी प्रतिकूल समीक्षा से निश्चय ही क्षुब्ध होंगे। लेकिन कुछ दिन बाद, हम लोगों के साथ अपनी पहली लम्बी बैठक में वे पूरी सहजता से मुस्कुराते रहे और खूब बतियाते रहे। मैं संकोच से जकड़ा हुआ सोचता रहा, इसी लेखक की किताब की बखिया उधेड़ने का मेरा काम कितना युक्तिसंगत था! उस दिन उनकी सहिष्णुता और सहजता से हम लोग प्रभावित ही नहीं हुए–चमत्कृत भी कम नहीं।

चमत्कृत इसलिए कि उस समय तक राधाकृष्णा जी से हम लोगों का मोहभंग हो चुका था। पता नहीं क्यों हिन्दी के राधाकृष्ण और राँची के लाल बाबू के साथ हम लोग औपचारिकता का दायरा तोड़ नहीं पाए। यूँ राधाकृष्ण बातचीत में सहज थे, हास-परिहास के प्रेमी थी, लतीफे सुनना-सुनाना उन्हें प्रिय था, लेकिन उनमें ऐसा कुछ अवश्य था जो उस दौर के युवा लेखकों को उनसे जोड़ नहीं पाया। हमारी अलग-अलग दुनिया थी। राँची में दूसरी जगहों से वरिष्ठ साहित्यकार आते तो राधाकृष्ण जी के संयोजन में गोष्ठियों की चौपाल जरूर जुड़ती थी। वहाँ हम सब अनामंत्रित रहते। जाहिर है कि उनकी गोष्ठियों में हमारी उपस्थिति निषिद्ध और वर्जित थी। इसी तरह हम युवाओं के किसी क्रियात्मक उपक्रम में उनकी उपस्थिति भी जरूरी नहीं समझी जाती थी। इस प्रकार राधाकृष्ण की मार्फत एक प्रतिष्ठित लेखक की जो छवि हमारे मनों में बनी थी, वह आत्मकेन्द्रित एक गौरव-स्तूप की छवि थी। कहने की जरूरत नहीं कि उस उमस भरे माहौल में शिवचन्द्र शर्मा एक खुले आसमान की तरह लगे जबकि राधाकृष्ण जी एक बन्द राजमहल थे। जाहिर है, हमें बन्द राजमहल की जगह वह खुला

आसमान अपने ज्यादा करीब महसूस हुआ।

सच है कि कवि के रूप में शिवचन्द्र शर्मा अपने जीवनकाल में आलोचनात्मक विद्रूप का निशाना बनते रहे। सच तो यह भी है कि वे भावप्रवण कवि थे भी नहीं, वाक्पटुता उनमें प्रचुर सुलभ अवश्य थी। उनकी कविता का शब्द शिल्प भाववाही कम और अर्थवाही ज्यादा था। उनका उक्तिवैचित्र्य कविता के शीर्षक से शुरू होकर अन्त तक भाषा की व्यंजना शक्ति के नानाविध प्रयोगों से लैस हो जाता था। यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शर्मा जी के कविता विषयक संस्कार जिस शिविर में ढले थे, वह नकेनवादियों का था। नकेन की बृहतत्रयी से शिचन्द्र जी की प्रगाढ़ मैत्री जग-जाहिर थी। नवीनता और प्रयोगशीलता के प्रति एक खास रुझान मिलता रहा उनमें। सटीक मगर प्रचलन से हटकर विलक्षण वाक्यों और पदों में अपनी बात कहने की अवधूती शैली के प्रति शिवचन्द्र जी का आग्रह उनके गद्य लेखन में भी पर्याप्त है। लेकिन उनके कथासाहित्य की गद्य भाषा की वाक्यरचना में शब्दों की व्यंजना शक्ति का सही और सटीक उपयोग हुआ है। 'काँच के तूफान' (कहानी संग्रह) और 'नया आदमी (उपन्यास) उन्हें कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में सुप्रतिष्ठित करने वाली कृतियाँ हैं।

प्रायः यह कहा जाता है कि शैली व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति-विधि होती हे। शिवचन्द्र जी ने अपने कृतित्व से यह धारणा पूर्णतः खंडित की है। लेखक शिवचन्द्र शर्मा और व्यक्ति शिवचन्द्र शर्मा में वही अन्तर मौजूद है जिस अन्तर की अपेक्षा इलियट ने भोक्ता और कलाकार के बीच की थी। शिवचन्द्र जी अपने निजी जीवन में जितने सहज थे, अपने साहित्य संसार में उतने ही असहज। उनके सम्पूर्ण लेखन में मानो असहजता को शिल्प और शैली का दर्जा मिल गया था। उनके विभाजित व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए यह विश्लेषण सूत्र शायद मददगार हो।

साहित्य चर्चा में तार्किक नोंक-झोंक और बहस-बतरस में शिवचन्द्र जी को रस मिलता था। बेशक उनकी मंशा होती थी कि ऐसी बहसें-बैठकबाजियाँ वैचारिक स्तर पर हों, न कि रणनीतिक लाभ कमाने के लिए। व्यक्तिगत उखाड़-पछाड़ या गुटबाजी में उनकी दिलचस्पी कतई नहीं थी, और न ही उन्होंने किसी न्यस्त स्वार्थ के लिए ओछे हथकंडों का कभी इस्तेमाल किया। वास्तव में वे सृजनशील व उदार व्यक्ति थे और एक अचूक गुणग्राहक भी। इस मिजाज की सही तस्दीक उनके सम्पादन में देखी जा सकती है। नए लेखकों की वाजिब तारीफ में उन्हें कंजूसी करते मैंने उन्हें कभी नहीं देखा। नएपन से उनको गजब लगाव थ। पाटल, दृष्टिकोण और स्थापना के अपने द्वारा संपादित अंकों में उन्होंने अनेक नए लेखकों को पहचाने जाने का मंच सुलभ कराया। फरवरी, 1969 की सारिका में अपने बहुचर्चित लेख 'सही खोपड़ी की तलाश' में उन्होंने नए-पुराने लेखकों के थिसारस का कैनवास जितना विस्तृत रखा, उससे स्पष्ट है कि वे साहित्य में व्यक्तिगत राग-द्वेष के रंचमात्र प्रभावित होनेवाले व्यक्ति नहीं थे।

कभी किसी साथी लेखक के लिए निन्दा-चुगली या फूहड़ टीका-टिप्पणी उनकी जबान पर नहीं आती थी। उन्होंने उठाने-गिराने के लिए पत्रकारिता की मोर्चेबन्दी हरगिज नहीं की। अलबत्ता जिस काम या बात को उन्होंने ठीक समझा, उसे जिद और आग्रह के साथ लिखा-रखा-किया। ठकुरसुहाती उन्हें नहीं सुहाती थी। खरी और सही बात जोर देकर कहने से वे कभी हिचके नहीं। मिसाल के तौर पर राजकमल चौधरी के निधन के तुरन्त बाद कई स्मृति सभाओं में उनके बेबाक विचार और उच्छ्वसित उद्गार मुझे याद आते हैं।

सन् 1969 में एक बार कमलेश्वर शिवचन्द्र शर्मा के आमन्त्रण पर राँची आए थे। वे अपने अतिथि का अभिन्नदन जैसा उत्सवी आयोजन करना नहीं चाहते थे, बल्कि उस अवसर को एक सार्थक संवाद गोष्ठी के रूप में यादगार बनाना चाहते थे। एक सम्पादक के रूप में कमलेश्वर ने सातवें दशक में जिस कथा पीढ़ी को सुस्थापित करने में अहम भूमिका निभाई थी, उसी के खिलाफ धर्मयुग में 'ऐय्याश प्रेतों का विद्रोह' लिखकर उन्हें खारिज करने की पहल भी की थी। उन दिनों मैं राँची में नहीं था। शिवचन्द्र जी ने एक्सप्रेस डाक से मुझे खत लिखा–'कमलेश्वर 23 को कलकत्ता से राँची आ रहे हैं। आप आएँ। छह दिनों से बीमार हूँ।' मैं राँची पहुँचकर उनसे मिला। उन्होंने अपनी मंशा बतलाई–'कमलेश्वर का 'घेराव' हो तो मुमकिन है, कुछ काम की बातें निकल आएँ।' कहने की आवश्यकता नहीं कि कमलेश्वर के सम्मान में जो गोष्ठी हुई, उसमें मैंने बड़े भाई द्वारा मुझे सौंपा गया टास्क पूरा किया। वह बैठक सामयिक कथा- लेखन के विभिन्न सन्दर्भों पर एक जानदार बहस का गवाह बनी।

सभी जानते हैं कि 1996 ई. में 'स्थापना' के तीन अंक कवि त्रिलोचन को केन्द्र में रखकर

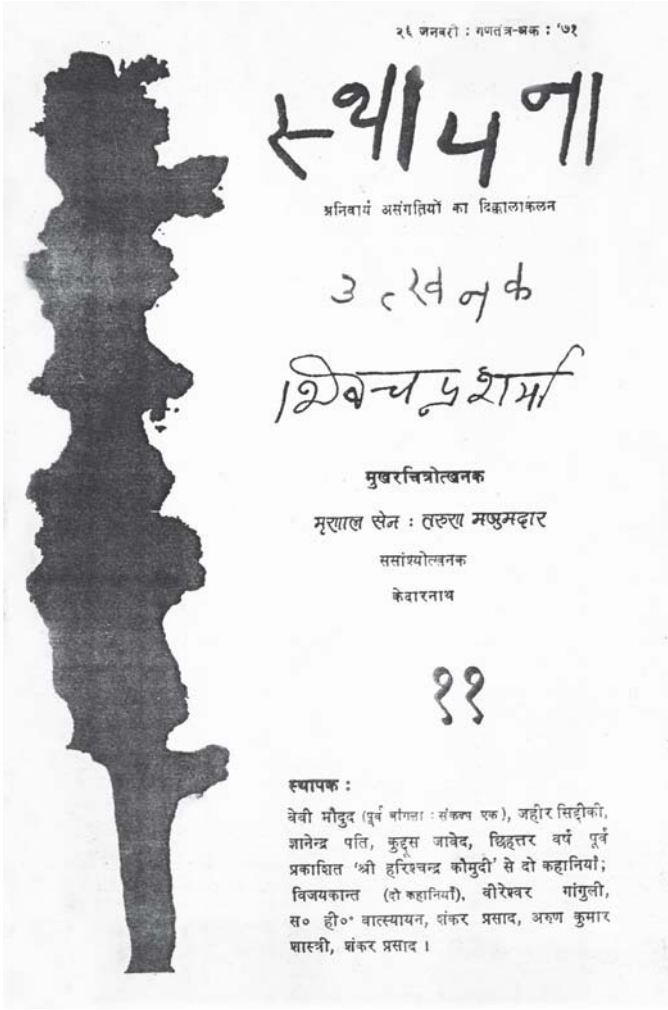

प्रकाशित हुए। उस समय तक शिवचन्द्र जी राँची से पटना शिफ्ट हो चुके थे। पत्रिका पटना से ही छपने लगी थी। त्रिलोचन अंक की योजना बनने पर उन्होंने मुझे लिखा कि मैं त्रिलोचन पर कोई समीक्षात्मक आलेख लिख भेजूँ। तब तक त्रिलोचन जी की एक ही किताब मेरे देखने में आई थी और उसमें संग्रहीत सॉनेट मुझे अपील नहीं कर सके थे। लिहाजा मैंने शर्मा जी को लिखा कि त्रिलोचन पर मुझसे नहीं लिखवाएँ। चूँकि उनकी कविताओं के बारे में मेरी राय अनुकूल नहीं है, इसलिए एक कवि के रूप में उनके मूल्यांकन को मैं अच्छे शब्द नहीं दे सकूँगा। बड़े भाई ने वापसी की डाक से मुझे हरी झण्डी दिखलाई–'आप जैसा ठीक समझें, लिखें। शर्त यह कि आपकी बातें अकाट्य प्रमाणसम्मत अवश्य हों।' अब स्वीकार करता हूँ कि मैं उस वक्त त्रिलोचन के सॉनेट के इतर लेखन या व्यक्तित्व-कृतित्व के अन्य पहलुओं के सम्पर्क में नहीं था। तो भी मुझे आज तक अफसोस है कि मैं बड़े भाई की इच्छा पूरी नहीं कर सका।

निजी सम्बन्धों को निभाने की कला की जैसी निपुणता मैंने शिवचन्द्र जी में देखी, वह मेरे लिए अन्यत्र दुर्लभ रही है। अपने साहित्यिक परिचय को पारिवारिक या व्यक्तिगत आत्मीयता में ढाल लेना उनके लिए इतना सरल था कि मेरे शहर में जो भी उनसे मिला, वह उनका होकर रह गया। राँची में आर्यपुरी स्थित उनके घर में साहित्यकर्मियों का जो मेला अक्सर दिखा करता था, उसमें उनके खुलेपन की कमाई झलकती थी। उनके भाईचारे और लगाव का यह नजारा सिर्फ कलमकारों तक सिमटा नहीं था। उसे उनके राजमर्रे के कामकाजी रिश्तों तक देखा जाता था। जैसे वह पान दूकान वाला हो या सब्जी देने वाला, भुंजा बेचनेवाला हो या रिक्शेवाला, प्रेस में कंपोजीटर हो या जिल्दसाज, हर जगह उनकी सहज पैठ थी। शिवचन्द्र शर्मा के इस सभाशास्त्र के पीछे सिर्फ व्यवहारकुशलता या सफल कारोबारी आदमी का दिमाग या दुनियादारी का खयाल भर नहीं था, बल्कि एक भले आदमी का सुसंस्कृत मन था, समानता पर आधारित समाज दृष्टि थी, और थी उन्मुक्त सादगी। जिन्दगी का जहर उन्होंने खुद पिया, पीते रहे और अमृत बाँटते रहे। वे जितना दूसरों पर हँसा करते थे, उतना ही स्वयं पर भी हँस लेते थे। कहीं कोई कुंठा नहीं, झेंप नहीं।

साहित्य और पत्रकारिता दोनों ही क्षेत्रों में शिवचन्द्र शर्मा ने काफी लिखा है। उनको मिली आयु के लिहाज से उनके काम का परिमाण बेशक बड़ा है। उनकी लेखनी के दायरे में साहित्य के सभी रूप समाहित हुए हैं–कविता, कहानी, उपन्यास, व्यंग्य, संस्मरण, निबन्ध, समीक्षा और सामयिक टिप्पणियाँ। एक लेखक के रूप में उनमें पर्याप्त वैविध्य मौजूद हैं। वैसे, मैं कथाकार और सृजनशील सम्पादक के रूप में ही उनके अवदान को अधिक उल्लेखनीय मानता हूँ। उनका एक प्रकाशित उपन्यास 'तैमुन्ना' अब अप्राप्य है और एक उपन्यास की पांडुलिपि अप्रकाशित रह गई हे। हर दिवंगत लेखक की तरह ही शर्मा जी की अनेक रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी रह गईं।

सिर्फ सैंतालीस सालों की अल्पायु लेकर शिवचन्द्र शर्मा जीवन और कार्यवृत्त के विविध चक्रों से गुजरे। दृष्टिसम्पन्न सम्पादक, छद्मनामी व्यंग्यकार, स्वतन्त्र पत्रकार, प्रयोगशील कवि, खोजी कथाशिल्पी, खरा समीक्षक, गम्भीर उपन्यासकार, हिन्दी सेवी विधान पार्षद होने के साथ-साथ पति, पिता, मित्र, पुत्र...। लेकिन बचपन में माँ की ममता से वंचित रहने और अनुदार पिता के कर्मकांडी अनुशासन ने उनके अबोध मन को जो खरोंच और पीड़ा पहुँचाई, उसकी कचोट ताउम्र उन्हें सालती रही होगी, यह मुझे लगता रहा। उनकी निकट सहचर्या के कई मार्मिक अवसरों पर मुझे महसूस हुआ है कि उनके शील सौजन्य और सहज हँसी के पीछे करुणा का कोई सागर लहरा रहा है। उनकी बतकही, विनोदी चर्चाओं और खुली हँसी की याद आती है तो बरबस एक पुराना शेर मुझे याद आता है–बड़े शौक से सुन रहा था जमाना, तुम्हीं सो गए दास्तां कहते-कहते।

प्रतिमान प्रकाशन, शिवशक्ति लेन, किशोरगंज, हरमू पथ, राँची–834001 (झारखण्ड)/ मो. 0995516422

महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

चार खंडों में

हिन्दी साहित्य का मौखिक इतिहास

(स्मृति संवाद)

शोध एवं संपादन

नीलाभ

मूल्य

250/- (प्रति खंड)

1000/- (चारों खंड)

एकमात्र वितरक

शिल्पायन

10295, वैस्ट गोरख पार्क,

शाहदरा, दिल्ली-110032

साहित्य-कोलाहल

कवि वोलेसोयंका : अफ्रीका की अन्तरात्मा

प्रज्ञाचक्षु

अफ्रीकी कवि वोलेसोयंका, जो 13 जुलाई को अपने जीवन के 75 वर्ष पूरे करने जा रहे हैं, दो दुनियाओं के बीच, जो सबसे अच्छा है, उसके उत्तराधिकारी हैं। उन्होंने कहा है, 'मानव जीवन का असली अर्थ उसी हद तक है जब तक वह मनुष्यता की सेवा के लिए समर्पित है।' यह बात नाइजीरिया के नोबेल पुरस्कार प्राप्त कवि वोलेसोयंका ने अपनी जेल डायरी के नोट, जिसका शीर्षक है 'दि मैन डाइड' (वह आदमी जो मर गया है) में लिखी है।

शब्दों की सत्ता

साहित्यिक पुरस्कार अच्छी चीज है यद्यपि यह व्यक्तिपरक होता है। पिछले दिनों दिल्ली के इंडिया हेबिटेट सेंटर में वोडाफोन क्रॉस वर्ड बुक अवार्ड 2008 का चुनाव करने के लिए इकट्ठे हुए लेखकों में शंकर, नमिता देवी दयाल और काली फॉर वुमन की सह संस्थापक उवर्शी बुटालिया उपस्थित थे। पुस्तकों के चुनाव के साथ एक परिचर्चा–'आज भारत में साहित्यिक पुरस्कारों की प्रासंगिकता' भी

आयोजित की गई थी। 1998 में स्थापित यह पुरस्कार तीन श्रेणियों में सर्वोत्तम भारतीय भाषाओं के लेखन के लिए दिया जाता है। कोशिश रहती है कि विशिष्ट कृति अधिकांश पाठकों तक पहुँचे। इसकी राशि तीन लाख रुपये और स्मृति चिह्न है। तीन श्रेणियों के पुरस्कारों में अंग्रेजी कथा साहित्य, भारतीय भाषाओं का अनूदित कथा साहित्य और गैर अंग्रेजी कथा साहित्य है। जो पुस्तकें पुरस्कार पूर्व चुनी गई, इनमें–अंग्रेजी कथा साहित्य में–अनुराधा राय, मंजुला पद्मनाभन, अमिताभ घोष, सलमान रुशदी, झुम्पा लहरी, गैर कथा साहित्य में–बशारत पीर, सुदीप चक्रवर्ती, पल्लवी अय्यर आदि की पुस्तकें हैं, भारतीय कथा साहित्य के अनुवाद में–जयकान्त की पुस्तक का अनुवाद, मंटो की चुनी हुई कहानियाँ आदि हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि भारतीय भाषाओं से अनूदित कथा साहित्य में मनोहर श्याम जोशी के 'ट्-ट्रा प्रोफेसर' को यह पुरस्कार मिला है, जिसका अनुवाद इरा पांडे ने किया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में उमर खय्याम

मध्यकाल के प्रसिद्ध शायर उमर खय्याम, जिनकी रुबाइयों का विश्व की अनेक भाषाओं में अब तक अनुवाद हो चुका है, की प्रतिमा का अनावरण आस्ट्रिया की राजधानी वियना में बने संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यालय में हुआ। हम उस दिन का इन्तजार करेंगे जब किसी भारतीय लेखक की प्रतिमा संयुक्त राष्ट्र संघ में लगाई जाएगी। विडम्बना की बात यह है कि खुद भारत की राजधानी दिल्ली में किसी भारतीय लेखक की प्रतिमा नहीं है। बेशक रवीन्द्र भवन स्थित साहित्य अकादेमी के परिसर के बाहर प्रसिद्ध रूसी कवि पुश्किन की आदमकद प्रतिमा जरूर है। ले-देकर राजधानी में रूस के महान उपन्यासकार लियो तोलस्टॉय के नाम पर कनॉट प्लेस से सटा टालस्टॉय मार्ग है और फिर खान मार्केट के पूर्वी छोर से गुजरने वाली सड़क का नाम प्रसिद्ध तमिल कवि सुब्रह्मण्यम भारती के नाम हैं। राजनीतिज्ञों की मूर्तियाँ और उनके नाम पर डेग-डेग पर पथ, मार्ग, लेन और चौक जरुर हैं। पिछले दिनों दिल्ली की कांग्रेस सरकार ने पता नहीं किस ईश्वरीय प्रेरणा से तिलक ब्रिज और सिकन्दरा रोड की क्रांसिग को भूली-बिसरी हिन्दी साहित्यकार दिनेशनन्दिनी डालमिया के नाम पर उद्घाटित किया।

चोर के चक्कर में पिकासो

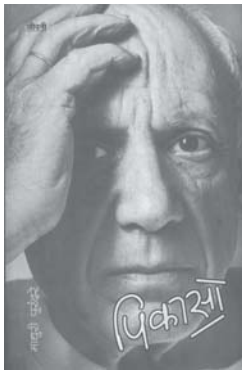

पिछले दिनों जब शान्ति निकेतन से गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर को 1913 में 'गीतांजलि' पर मिले नोबेल साहित्य पुरस्कार का मेडल चोरी हुआ तो पश्चिम बंगाल की सरकार ही नहीं, केन्द्र सरकार भी सकते में थी। जून के प्रथम सप्ताह में पेरिस के एक संग्रहालय से विश्व विख्यात महान कलाकार पाब्लो पिकासो की एक स्केच बुक चोरी हो गई, जिसमें फ्रांस के सांस्कृतिक मन्त्रालय के अनुसार 13 चित्र थे। अनुमानतः चोरी सोमवार या मंगलवार को हुई, जब संग्रहालय आम जनता के लिए बन्द रहता है। पाब्लो पिकासो

की प्रसिद्धि पूरी दुनिया में उनकी महान कलाकृति 'गुएर्निका' के कारण है, जिसमें उन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हिटलर द्वारा की गई बमबारी में फ्रांस के एक उजड़े गाँव का लोमहर्षक चित्र बनाया था।

बधाई

हिन्दी के प्रतिष्ठित कथाकार डॉ. काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'काशी का अस्सी' पर फिल्म बनाने का निर्णय लिया गया है। फिल्म के निर्माता और निर्देशक डॉ. चन्द्रप्रकाश द्विवेदी, जिन्होंने, 'चाणक्य' सीरियल का निर्माण और अमृता प्रीतम के उपन्यास 'पिंजर' का फिल्मांकन किया था, पिछले दिनों वाराणसी में लेखक से बातचीत करने और लोकेशन देखने के सिलसिले में थे।

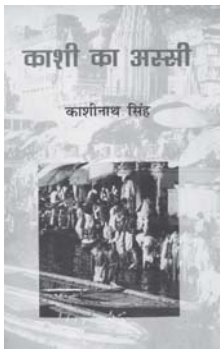

लेखक-प्रकाशक सम्बन्धों पर विवाद

कहना चाहिए आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल भारतेन्दु-युग में लेखक और प्रकाशक के सम्बन्ध न केवल सौहार्दपूर्ण थे बल्कि मधुर भी। इसका एक बड़ा उदाहरण बांकीपुर पटना में बाबू रामदीन सिंह द्वारा स्थापित खड्गविलास प्रेस के साथ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हार्दिक सम्बन्ध थे। ऐसा लगता है वक्त बीतने के साथ जैसे-जैसे प्रकाशन का व्यवसायीकरण होता गया, लेखकों का शोषण बढ़ता गया। यह एक दुखद प्रसंग है।

अनुमानतः प्रकाशकों द्वारा हिन्दी लेखकों का शोषण छठे दशक के आरम्भ में ही चरम शिखर पर पहुँच गया था। यदि हम इतिहास की ओर पलटकर देखें तो साहित्य अकादेमी का इतिहास (फाइव डिकेड्स–डी.एस. राव) के परिशिष्ट में संकलित पंडित नेहरू के पत्र की प्रतिलिपि इसका ज्वलंत उदाहरण है। साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली की स्थापना के तुरन्त बाद तत्कालीन प्रधानमन्त्री और अकादेमी के अध्यक्ष पं. नेहरू ने अकादेमी के सचिव कृष्ण कृपलानी को 13 मार्च 1954 को पत्र लिखकर शिकायत की कि इलाहाबाद के कवि निराला की पुस्तकों को औने-पौने दाम में खरीदकर प्रकाशक उन्हें रॉयल्टी नहीं दे रहे हैं। उनकी कुछ पुस्तकें कोर्स में भी लगी हैं लेकिन वे आर्थिक तंगी से गुजर रहे हैं। प्रकाशकों के इस रवैये से क्षुब्ध होकर कठोर शब्दों में उन्होंने उनकी निन्दा की–This is a Scandalous case of a publisher exploting a writer shamelessly. (page-296)

यहाँ तक कि नेहरू ने सचिव को सुझाव दिया कि वे शिक्षा मन्त्री अबुल कलाम आजाद से मिलकर निराला को महादेवी वर्मा की मार्फत आर्थिक सहायता प्रदान करें और कॉपीराइट एक्ट में भी संशोधन कराएँ। इसी का परिणाम है कि 1847 से चला आ रहा कॉपीराइट एक्ट संशोधित रूप पूर्णतः भारतीय कॉपीराइट एक्ट 1957 में लागू हुआ। स्पष्टतः ये सारे संशोधन लेखकों को प्रकाशकों के शोषण से बचाने के लिए किए गए। लेकिन दुःख की बात यह है कि शोषण का यह सिलसिला अब तक थमा नहीं।

अभी कुछ दिन पहले प्रतिष्ठित आलोचक निर्मला जैन ने एक दैनिक समाचार पत्र में इस पर टिप्पणी की थी। लेकिन डॉ. नामवर सिंह ने प्रकाशकों से, खासकर राजकमल प्रकाशन से अपने मधुर सम्बन्धों का उल्लेख ही नहीं किया बल्कि हिन्दी प्रकाशन को ग्रामोद्योग कहा, जिसे प्रोत्साहित करने की जरूरत है। लेकिन यह सिक्के का एक व्यक्तिगत पहलू है। यदि लेखक प्रकाशक सम्बन्ध को हमें व्यापक अर्थ में देखना है तो हमें कुछ मुख्य बिन्दुओं पर विचार करना होगा। पहला तो यही है–क्या कॉपीराइट एक्ट जैसी कानूनी ढाल का आविष्कार लेखकों को हतोत्साहित करने के लिए प्रकाशकों द्वारा इस्तेमाल करने के लिए बना था या यह एक बड़ा सवाल है जिसे आरती एस.आनन्द ने 'दि हिन्दू' (29 दिसम्बर, 2008) में उठाया है? इतना तो स्पष्ट है कि वर्तमान कॉपीराइट अधिनियम 1957 अब तक के तमाम संशोधनों के बाद लेखकों के हित की पर्याप्त रक्षा नहीं करता है क्योंकि लेखकों के पास इस बात को जानने का कोई जरिया नहीं है कि प्रकाशक ने किस पुस्तक की कितनी प्रतियाँ प्रकाशित कीं और रॉयल्टी का हिसाब ठीक-ठाक है। यह बात बार-बार दोहराई जा रही है कि हिन्दी में पुस्तकें नहीं बिकतीं तब यह क्योंकर हुआ कि आजादी के पहले पूरे भारत में हिन्दी के ठीक से 25 प्रकाशक भी नहीं थे। आज जबकि उनकी संख्या हजार से ऊपर है। बनारस की गंगा में बजरे पर घूमते हुए निराला प्रकाशकों की बड़ी-बड़ी कोठियाँ दिखाकर कहते थे–यह हमारे पैसे की कमाई से बनी है। तब हम उन्हें पागल समझते थे जबकि यह हकीकत थी।

'भोपाल गैस त्रासदी' किताब पर रोक

जबलपुर की एक स्थानीय अदालत ने फ्रांसीसी लेखक डोमिनिक लापियर और जेवियर मोरो की फुल सर्किल पब्लिकेशन प्रा.लि., नई दिल्ली से प्रकाशित पुस्तक 'फाईव पास्ट मिडनाइट इन भोपाल', जो भोपाल गैस त्रासदी पर केन्द्रित है, पर एक अन्तरिम आदेश के जरिए रोक लगा दी है। म.प्र. के पूर्व पुलिस महानिदेशक स्वराजपुरी ने किताब के कुछ हिस्सों पर ऐतराज जताते हुए इस पर रोक लगाने के लिए याचिका दायर की थी। गैस त्रासदी के समय पुरी भोपाल के पुलिस अधीक्षक थे।

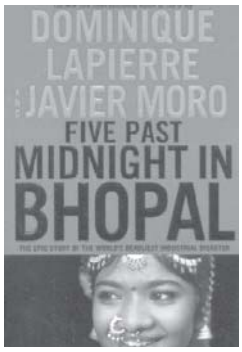

हेमिंग्वे : के.जी.बी.एजेंट?

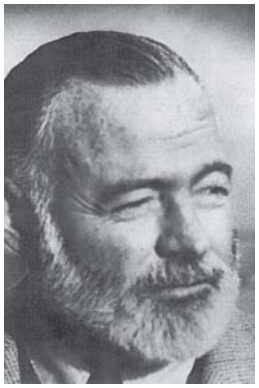

गार्जियन न्यूज सर्विस, लन्दन के अनुसार नोबेल पुरस्कार प्राप्त उपन्यासकार अर्नेस्ट हेमिंग्वे के दुनियाभर के प्रशंसकों के लिए एक बुरी खबर है। पिछले दिनों जॉन अर्ल हेनिस, हार्बे लेर और एलैक्जंडर बासिलिएव द्वारा संयुक्त रूप से लिखित पुस्तक–'स्पाइज : द राइज एन फॉल ऑफ द के.जी.बी. इन अमेरिका (येल यूनिवर्सिटी प्रेस) से यह रहस्य

उद्घाटित हुआ है कि 1954 में अपने उपन्यास 'द ओल्ड मैन एंड द सी' के लिए नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखक अर्नेस्ट हेमिंग्वे अमेरिका स्थित के.जी.बी. के जासूसों की सूची में थे। यह पुस्तक के.जी.बी. के भूतपूर्व अफसर बासिलिएव के नोट्स पर आधारित है। उन्हें 1990 के दशक में स्तालिन युग के मास्को स्थित इंटेलिजेंस अभिलेखागार देखने की अनुमति दी गई थी। वैसे यह चौंकाने वाली बात नहीं है, सामरसेट मॉम जैसे विश्व विख्यात लेखक भी कम्युनिज्म के खिलाफ लेनिन युग में पश्चिमी यूरोप के जासूस थे।

बधाई

एक दैनिक समाचार पत्र के अनुसार 05 जुलाई को गोरखपुर में दिग्विजयनाथ पी. जी.कॉलेज सभागार में डॉ. कुंवर नरेन्द्र प्रताप सिंह जयंती समारोह में वर्ष 2009 का पहला नरेन्द्र सम्मान भारतीय जनता पार्टी के स्थानीय सांसद और गोरक्षपीठ के उत्तराधिकारी योगी आदित्यनाथ के कर कमलों द्वारा हिन्दी के कवि-कथाकार उदय प्रकाश को दिया गया। इस अवसर पर स्व. कुंवर नरेन्द्र प्रताप सिंह के कविता संग्रह 'इससे बेहतर सवाल क्या होगा' का लोकार्पण भी किया गया। विडम्बना की बात यह है कि सम्पूर्ण हिन्दी समाज के लिए इसमें एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ है कि हिन्दी के एक वामपंथी कवि ने उस व्यक्ति के हाथों पुरस्कार ग्रहण किया, जिसके एजेंडे पर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद तो है ही, बाबरी मस्जिद के विध्वंस का कलंक भी लगा हुआ है। समारोह में मंच पर आसीन थे 'आलोचना' के भूतपूर्व संपादक डॉ. परमानंद श्रीवास्तव।

रोलिंग पर मुकदमा

जे.के. रोलिंग पिछले कुछ वर्षों से 'हैरी पॉटर' शृंखला की लेखिका के रूप में खूब चर्चित ही नहीं रही हैं बल्कि बेस्टसेलर लेखिका के रूप

में भी शुमार रही हैं। लेकिन हाल में उनके प्रकाशनों पर एक ब्रिटिश लेखक के संबंधियों ने उनके खिलाफ इस बिना पर मुकद्दमा दायर किया है कि लेखिका ने अपने उपन्यास 'हैरी पॉटर एंड द गॉवलेट ऑफ फायर' में एड्रियन जैकब के उपन्यास 'द एडवेंचर्स ऑफ विली द विजर्ड–नम्बर 1 लिविड लैण्ड' के अंश शामिल किए हैं।

200 वर्ष पुराना ब्रिटिश अखबार ऑनलाइन

सामान्यतया पूरी दुनिया के लिए और विशेषतया भारत के लिए यह विशेष सुखद खबर है कि ब्रिटेन के एक पुस्तकालय ने पहली बार 19वीं सदी की शुरूआत और 20वीं सदी के अखबारों के 20 लाख पन्ने इन्टरनेट पर उपलब्ध करवाए हैं, जिससे शोधकर्ताओं और पाठकों को भारत के स्वतन्त्रता संग्राम 1857 के साथ विश्व की प्रमुख घटनाओं के दुर्लभ प्रामाणिक दस्तावेज उपलब्ध हुए हैं।

द वॉल स्ट्रीट जर्नल का फेसीमिली संस्करण भारत में उपलब्ध

यदि भूमण्डलीकरण ने कुछ शब्दों के प्रचलित अर्थ को विस्थापित किया है तो कुछ शब्दों के नए अर्थ ही नहीं दिए हैं बल्कि भारतीय भाषाओं के अखबारों के बरक्स विदेशी अखबार को बाजार में लाकर इनके बीच प्रतिस्पर्धा भी बढ़ाई है। भारत में अन्तर्राष्ट्रीय अखबार और मीडिया की हमेशा से माँग रही है इसलिए भी कि राष्ट्रीय मीडिया की तुलना में इनके जरिए हमें एक अलग दृष्टि तो मिलती ही है बल्कि इस बात का भी पता चलता है कि दूसरे देश

THE WALL STREET JOURNAL.

What's News–

हमारे बारे में क्या सोचते हैं। हाल में अमेरिका के आर्थिक अखबार 'द वॉल स्ट्रीट जर्नल' ने भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के अन्तर्गत अपना फेसीमिली संस्करण भारतीय बाजार में उतारा है। इस अखबार के मुख्य संपादक सुमन दुबे हैं।

यौन व्यवहार पर डार्विन के विचार

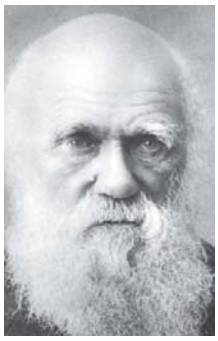

अभी जब हम विश्व-विख्यात प्रकृति विज्ञानी चार्ल्स डार्विन की 200वीं वर्षगांठ मना रहे हैं, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय लन्दन ने महिलाओं और यौन व्यवहार पर उनके विचारों के अध्ययन के लिए एक परियोजना 'डार्विन और जेंडर' की शुरुआत की है। 'ओरिजिन ऑफ द स्पीसिज' जैसी पुस्तक, जिसने दुनिया का मानचित्र बदल दिया था, के बारे में कहा जाता है, जब लिखी गई थी तब उनकी बेटी हेनरीएटा बहुत छोटी थी। ऐसा अनुमान लगाया जा रहा है कि इस परियोजना के बाद अपनी बड़ी बेटी हेनरीएटा से डार्विन के सम्बन्ध सामने आएँगे। डार्विन का अपनी जिन्दगी में कई महिलाओं से खतों के जरिए रिश्ता था। इनकी संख्या 148 तक बताई जाती है। डार्विन और जेंडर में डार्विन के जीवन के अनछुए पहलुओं के अलावा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की वैज्ञानिक और सामाजिक नजरिए से पड़ताल की जाएगी।

लघु (छोटी) पत्रिकाएँ : आन्दोलन और परिणति

भारत भवन, भोपाल की ओर से आयोजित तीन दिवसीय परिसंवाद, जो मुख्यतः लघु पत्रिका आन्दोलन और साहित्यिक पत्रकारिता पर केन्द्रित था, के अनेक छोर थे। एक छोर पर लघु पत्रिका को परिभाषित करने की कोशिश थी तो दूसरे छोर पर लघु पत्रिका आन्दोलन की परिणति थी। बीच में लगभग मृत संस्था भारत भवन को पुनर्जीवित करने की कोशिश करते भारत भवन के न्यासी सचिव मनोज श्रीवास्तव और आयोजकों की

स्थिति डांवाडोल थी। कहने को तो 57 लघु पत्रिकाओं के संपादक आमन्त्रित थे। लेकिन जोड़-तोड़ कर कुल 40 तथाकथित संपादकों और उनके प्रतिनिधियों ने विमर्श में हिस्सा लिया। मनोज श्रीवास्तव को तो ठीक से यह भी नहीं मालूम कि भारत भवन के आयोजन से पहले केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के निदेशक और 'समकालीन सृजन' के संपादक डॉ. शम्भु नाथ ने आगरा में सही अर्थ में लघु पत्रिकाओं के संपादकों का पहला सम्मेलन किया था। अब रही बात इस परिसंवाद की उपलब्धि की। पहली बात तो यह है कि विमर्श में हिस्सा लेने वाले अधिकांश संपादकों को न ठीक से लघु पत्रिका का इतिहास मालूम था और न ही इसके चरित्र का भूगोल। इसी तरह लघु पत्रिका की परिभाषा ढूँढने की कोशिश की भी जरूरत नहीं थी। जब शुक्ल जी के शब्दों में ठीक से कविता कभी परिभाषित नहीं की जा सकती तो लघु पत्रिका की पहचान जिन चीजों से बनती है, वह यह है कि छठे दशक में बड़े पूँजीपति घरानों से निकलने वाली व्यावसायिक बड़ी पत्रिकाओं के विरोध में हिन्दी के कुछ विद्रोही लेखक संपादकों ने अलग-अलग शहरों से लघु पत्रिकाएँ निकालकर वैचारिक प्रतिरोध व्यवस्था और पूँजीवादी घराने के खिलाफ शुरू किया था। यह अलग बात है कि आज के तमाम प्रतिष्ठित लेखक लघु पत्रिकाओं से होकर ही साहित्य के परिदृश्य पर आए, लेकिन दुखद बात यह है कि आज अधिकांश लघु पत्रिकाओं के सामने न कोई मिशन है और न ही मनुष्यता के प्रति कोई प्रतिबद्धता। व्यक्तिगत यश की आकांक्षा जरूर है। विडम्बना की बात यह है कि जिन लेखकों ने लघु पत्रिकाओं का विरोध किया था, इसे सीढ़ी बनाकर धीरे-धीरे उन्हीं पूँजीवादी प्रतिष्ठानों में लौट गए। लघु पत्रिकाओं की अंट-शंट कीमत और अनर्गल रचनाओं ने भी इस आन्दोलन को क्षतिग्रस्त किया है। अब तो कुछ संपादकों के लिए नौकरी का यह विकल्प भी हो गया है। यही कारण है कि छोटी पत्रिकाएँ मोटी होती जा रही हैं।

विदेशों के हिन्दी शिक्षक भारत में प्रशिक्षण लेंगे

भारतीय न्यूज एजेन्सी वार्ता के अनुसार विदेशों के 100 से अधिक विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाने वाले शिक्षक अब भारत में हिन्दी का विशेष प्रशिक्षण लेंगे। मानव संसाधन विकास मन्त्रालय और विदेश मन्त्रालय ने मिलकर यह योजना बनाई है। ये शिक्षक महाराष्ट्र के वर्धा स्थित म.गा.अ.हि.वि.वि. में प्रशिक्षित किए जाएँगे। मानव संसाधन विकास मन्त्रालय द्वारा विदेशों में हिन्दी पढ़ाने वाले शिक्षकों को विशेष प्रशिक्षण देने के लिए दिया गया प्रस्ताव विश्वविद्यालय ने स्वीकार कर लिया है। परियोजना की शुरुआत शीघ्र ही होगी और विश्वविद्यालय द्वारा देश में पहली बार थिएटर एवं फिल्म का एक संयुक्त पाठ्यक्रम शुरू किया जा रहा है जिसमें श्याम बेनेगल, नसीरुदीन शाह, ओमपुरी जैसे लोगों को अध्यापन के लिए आमन्त्रित किया जाएगा। विश्व-विद्यालय की अब तक की गतिविधियों का यह नया आयाम होगा।

नीलाभ ने ठुकराया अकादेमी पुरस्कार

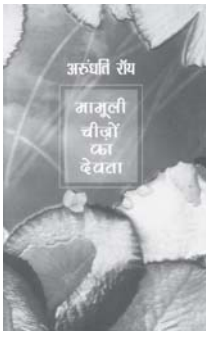

हिन्दी कवि एवं बी. बी.सी. के भूतपूर्व पत्रकार नीलाभ ने साहित्य अकादेमी का अनुवाद पुरस्कार ठुकरा दिया है। पुरस्कार ठुकराने का कारण उन्होंने अकादेमी की घटती विश्वसनीयता बताया है। अकादेमी ने नीलाभ को अरुंधति राय का अंग्रेजी में प्रकाशित उपन्यास 'गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' के हिन्दी अनुवाद 'मामूली चीजों का देवता' (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली) के लिए पुरस्कृत करने की घोषणा की थी। अकादेमी को लिखे पत्र में उन्होंने स्पष्ट किया है कि जब स्वयं अरुंधति राय ने अकादेमी के पुरस्कार को ठुकरा दिया तब उनकी पुस्तक के अनुवाद को पुरस्कृत करने का निर्णय आश्चर्यजनक है।

बधाई

एक विज्ञप्ति के अनुसार वर्ष 2008 का डॉ. रामविलास शर्मा आलोचना सम्मान युवा आलोचक डॉ. शम्भु गुप्त को देने का निर्णय लिया गया है। शम्भु गुप्त अलवर में रहते हैं।

उन्हें यह सम्मान आगामी 29-30 अगस्त 2009 को इलाहाबाद में आयोजित 'केदार सम्मान' के अवसर पर दिया जाएगा।

स्मरण

डॉ. बच्चन सिंह : 2 जुलाई, 1919
पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी : 7 जुलाई, 1883 ई.
कलक्टर सिंह 'केसरी' : जुलाई 1909
मदन वात्स्यायन : 11 जुलाई 2004
मैथिलीशरण गुप्त : 3 अगस्त 1886
भीष्म साहनी : 8 अगस्त, 1915
आचार्य शिवपूजन सहाय : 9 अगस्त, 1893
मनोहर श्याम जोशी : 9 अगस्त, 1933
नेमिचन्द्र जैन : 16 अगस्त, 1919
पुरुषोत्तम दास मोदी : 19 अगस्त, 1928
हजारी प्रसाद द्विवेदी : 20 अगस्त, 1907
त्रिलोचन : 20 अगस्त, 1917
भगवती चरण वर्मा-30 अगस्त, 1903

जन्मदिन पर शुभकामनाएँ

कन्हैयालाल नन्दन : 1 जुलाई, 1933
लीलाधर जगूड़ी : 1 जुलाई, 1940
डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह : 5 जुलाई, 1949
डॉ. गोपाल राय : 13 जुलाई, 1932
डॉ. धनंजय वर्मा : 14 जुलाई, 1935
राजेश जोशी : 18 जुलाई, 1946
कृष्ण बलदेव वैद : 27 जुलाई, 1927
डा. नामवर सिंह : 28 जुलाई, 1927
नीलेश रघुवंशी : 4 अगस्त 1969
मदन दीक्षित : 8 अगस्त, 1926
प्रतिभा अग्रवाल : 10 अगस्त, 1930
राजेन्द्र धोड़पकर : 11 अगस्त, 1956
नीलाभ : 16 अगस्त, 1945
देवी प्रसाद मिश्र : 18 अगस्त 1958
डॉ पुरुषोत्तम अग्रवाल : 25 अगस्त 1955
डॉ चमन लाल : 27 अगस्त, 1947
राजेन्द्र यादव : 28 अगस्त, 1929
नन्दकिशोर आचार्य 31 अगस्त, 1945

email : chakshu.pragya@gmail.com

समय-जुलाहा

उन्होंने मौत को अंडरग्राउंड कर दिया

कुबेर दत्त

आपातकाल के दिनों में उन्होंने प्रभु जोशी से एक बातचीत के दौरान कहा था—''बड़े दब्बू हैं लोग, राजनीति के कारण डर से अंडरग्राउंड हो रहे हैं। हमें तो मौत ही अंडरग्राउंड करेगी।'' आज सच यह है कि कवि नईम ने मौत को अंडरग्राउंड कर दिया। कवि को, काष्ठ-चितेरे को, हजारों लोगों के 'आपुजन' को, एक 'सच्चे पारिवारिक' को, 'बड़े नागरिक' को एक वास्तविक देशभक्त को मौत पछाड़ न सकी। क्या ले गई साथ? कवि की साँस, हाड़-माँस देह? मगर क्या वह कवि की रचनाओं को, उसके चाहनेवाले को, दोस्तों-परिजनों-पाठकों-विद्यार्थियों के दिलोदिमाग में बसी यादों को भी साथ ले गई? नहीं। कवि नईम ने मौत को ही अंडरग्राउंड कर दिया!

वे 74 साल के थे। उनके प्रशंसक अगले साल (2010) उनकी पचहत्तरवीं मनाने की सोच रहे थे। उनके साहित्य और कलाकर्म पर तो गम्भीर लोग चर्चा करेंगे ही, और ऐसा भी नहीं है कि उनके अवदान पर विचार-विमर्श न हुआ हो पर सिलसिलेवार अध्ययन-विश्लेषण की जरूरत तो बनी ही रहेगी। मैं तो इतना जानता हूँ कि नईम की रचनाओं में सादगी थी और इसी कारण पुरकारी भी थी। वे गढ़ते नहीं थे, तुक्के नहीं लगाते थे, तुकबंद भी नहीं थे, अपनी रचनाओं को किसी पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती वाद से नहीं जोड़ते थे। उनकी कविताएँ गीत भी थीं, गद्यगीत भी थीं, उनमें ढूँढने पर शास्त्रीयता भी मिल जाती थी, और न ढूँढने पर लोक छवियाँ भी। गीत, गजल, सॉनेट जो भी उन्होंने रचा, वह सद्यस्नात बालक के चेहरे पर उभरते भावों जैसा होता था। सीधे-सादे लगने वाले शब्दों में बहुत गहराई होती थी। उनकी चिट्ठियाँ भी (जो वे अक्सर हिन्दुस्तान भर में फैले सैंकड़ों मित्रों-प्रशंसकों को लिखा करते थे, लम्बी भी, छोटी भी, सिंगल पोस्टकार्ड पर या जुड़े हुए दो पोस्टकार्डों पर भी) उनके गीतों जैसी ही होती थीं जैसे कि उनकी बातों में भी गीति-ध्वनियाँ जगर-मगर रहती थीं। आज जो हालात हैं, व्यक्ति के, समाज के, दुनिया के और शासन के, उन्हें सहज ढंग से वे अपने छोटे-छोटे गीतों में, गजलों में, अनायास ही ले आते थे। उनके एक गीत को देखिए—

चिट्ठी-पत्री, खतो-किताबत के मौसम
फिर कब आयेंगे?

रब्बा जाने
सही इबादत के मौसम फिर कब आयेंगे?

चेहरे झुलस गये क़ौमों के लू-लपटों में,
गंध चिरायंध की आती छपती रपटों में
युद्ध क्षेत्र से क्या कम है ये मुल्क हमारा
इससे बदत्तर,
किसी कयामत के मौसम फिर कब आयेंगे?

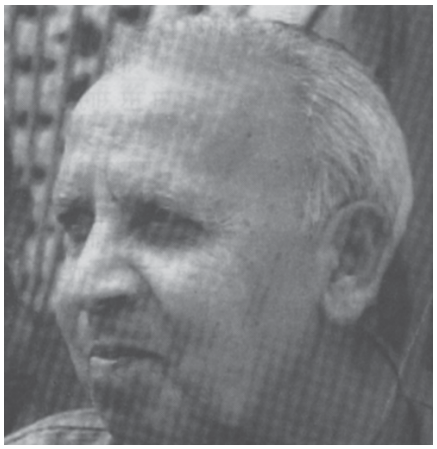

हवालात सी रातें, दिन कारागारों से,
रक्षक घिर हुए चोरों से, बटमारों से,
बंद पड़ी इजलास
जमानत के मौसम फिर कब आयेंगे?

ब्याह, सगाई, बिछोह-मिलन के अवसर चूके,
फसलें चरे जा रहे पशु, हम मात्र बिजूके
लगा अंगूठा कटवा बैठे नाम खेत से
जीने से भी बड़ी शहादत के मौसम
फिर कब आयेंगे?

अपनी चिट्ठियों में वे अपनी कविताओं के बारे में कुछ लिखते हों, पता नहीं, पर मेरे पास आईं उनकी अनगिनत चिट्ठियों में और बहुत कुछ होता था मगर उनकी चर्चा में उनकी कविताएँ नहीं होती थीं। मगर दूसरों की कविताई की, उनके क्रिया-कलापों की, लिखने-पढ़ने-रचने की खबरों में उनकी गहरी रुचि रहती थी। वे खोद-खोद कर पूछते थे—तुम्हारी पेंटिंग कैसी चल रही है...कितनी हो गईं? कविता की खेती कैसी चल रही है? बिटिया कैसी है और उसका डान्स? और हाँ, बेगम का हाल क्या है। यानी एक छोटे से खत में वे परिवार और सृजन पर कई सवाल पूछ लेते थे।

नईम कविता-कामिनी के चारों ओर भांड़-मुद्रा में नाचने-गाने वाले कवि नहीं थे। उनकी रचनाएँ 'कोमल कान्त पदावली' भी नहीं थीं। वे कसीदे नहीं लिखते थे। सेहरे नहीं लिखते थे। नान्दीपाठ की रस्म नहीं निभाते थे। और लिखने और सोचने के बीच फांक नहीं रखते थे। बल्कि लिखने-सोचने-बरतने-व्यवहार करने में भी कोई फांक नहीं थी। वे खांटी हिन्दुस्तानी थे। मुसलमान परिवार में

जन्मे थे पर खुद को मुसलमान नहीं मानते थे। उनका पूरा जीवन और परिवार खालिस 'भारतीय तहजीब' को अपनाता रहा। वे कबीर के कुनबे के थे। इसीलिये उन्होंने संत कवियों की तरह अपने वक्त और युग का उल्लंघन किया।

वे परम्परावादी तो कतई नहीं थे पर परम्परा पर उनकी पकड़ थी। फिर भी किसी बँधे-बँधाए शास्त्र के बंधनों में वे नहीं बँधे। इसीलिए उनकी कविताएँ देशकाल के खाँचों से बराबर आजाद रहेंगी। नईम के इकतारे पर सरहपा, कबीर, नानक, नजरूल, तुकाराम, निराला, नजीर, नागार्जुन की ध्वनियाँ उभरती हैं।

नईम के संग्रह 'बातों ही बातों में' की भूमिका श्री नरेश मेहता ने ही लिखी थी। नईम की कविताओं के बारे में उनका कहना था—...ये कविताएँ पढ़ लिए जाने के बाद हमारा स्वत्व बन जाती हैं और स्वत्व को निश्चित ही सुवासित होना चाहिए और नईम की कविताएँ ऐसी ही सुगन्ध हैं।

गीत विधा को, गीत-आन्दोलन को, नई कविता के लम्बरदारों ने इरादतन और जबरन, षड्यन्त्र करके, ध्वस्त करने का एक मजबूत तन्त्र पैदा किया कि केदारनाथ सिंह और कैलाश वाजपेयी जैसे सबल गीत लिखने वालों ने भी गीत से विदा ले ली और 'आधुनिक' होते चले गए लेकिन नईम और प्रेम शर्मा जैसे गीतकारों ने हार न मानी और बदस्तूर वे अपने रास्तों पर चलते रहे। उनकी कविताई को कोई 'आधुनिकता' न मार पाई और उन्होंने इस तथाकथित आधुनिक कविता-पुलिस को धकिया कर अपनी राह बनाई। कोई ऐसी कथित 'आधुनिक' पत्रिका है जिसने पिछले 50 वर्षों में नईम के गीत नहीं छापे हैं? पिछले वर्षों में तो देखा यह गया कि एक साथ 20-20 पत्रिकाओं में नईम नजर आते रहे और निधन के बाद भी यह सिलसिला जारी है। उनकी पुस्तकें भी बड़े-बड़े प्रकाशन संस्थानों से, इधर फिर से प्रकाशित हुई हैं।

नईम की रचनाओं में न तो आत्मकेन्द्रित पीड़ाएँ-कुँठाएँ हैं और न ही व्यर्थ का काल्पनिक आनन्दवाद। उनमें एकदम साफ, दीखता यथार्थ है। उनके यहाँ बेपरवाह रोमानीपन भी नहीं है और छिछली, भोथरी आत्मपरकता भी नहीं। उन्होंने नवगीत के लांछनों को भी ऊपर नहीं लिया बल्कि बिना किसी आन्दोलन या मठवाद के, बिना किसी झंडे-नारे के गीत को व्यापक सामाजिक धरातल दिया। उन्होंने गीत के बने बनाए ढाँचों को तोड़ दिया और मंचीय बाजार को भी अँगूठा दिखाया। नईम की कोई परम्परा मानी जा सकती है तो वह निराला की ही परम्परा होगी। लेकिन अपनी रचनाओं में नईम की 'नईमी' साफ झलकती है जैसे निराला के गीतों में निराला का निरालापन।

नईम ने अपनी रचनाओं के लिए हमेशा नई जमीन तोड़ी, गोड़ी, पाटा चलाया और गीत-गजल-सॉनेट के शुद्ध 'नईमी बीज' बोये। वे इतने 'सर्वप्रिय' थे कि साहित्य के मठों के लोग हों या घड़ों के, संघों के या संगठन के मंच के या संस्थान के या देश भर में फैले उनके प्रशंसक-पाठक-मित्र और परिवार...सब उनके 'अपने' थे। वे सीधे-सादे जरूर थे, अहंकारी भी नहीं थे, अभिमान उन्हें छू नहीं गया था मगर उनमें स्वाभिमान की मालवी ठसक जरूर थी। वह स्थानिक उतनी नहीं जितनी सर्जनात्मक थी। वे जिन्दादिल और आत्मीयता से लबरेज थे। साहित्य को ओढ़ना-बिछाना उनका जीवन-ढब नहीं था। वे साहित्य और जीवन में एक थे।

'नईम' सिर्फ कवि नहीं थे। **एक काष्ठ-शिल्पी भी थे**। जीवन की उत्तर-यात्रा में उनके दिमाग में एक दिन कुछ कौंधा। और वे जंगलों में भटकने लगे। उन्होंने देखा—कहीं कोई टहनी टूट कर पड़ी है, कहीं कोई तना, कहीं सूखी लकड़ी, कहीं कोई लट्ठा, कहीं कोई खोखल, कोई कटी-फटी डाल, कोई पुरानी बीझी लकड़ी, कोई ठूँठ...। उन्होंने मन बनाया। इस 'काष्ठ सम्पदा' को चुनना, सहेजना शुरू किया। रंदा लाए, आरी लाए, बसौला लाए.. .औजार लाए। उन्होंने महसूस किया—जो अकुलाहट...बेचैनी, छटपटाहट, प्रसन्नताएँ, स्मृतियाँ उनके मन-जहन में हैं—वे उन अनगढ़ लकड़ियों में झलक रही हैं। मन में काफी कुछ जो अव्याख्येय है, वह व्याख्या पा सकता है। जिसे 'अनागत' शब्द नहीं कह पा रहे, वह अब लकड़ी में रूपायित होना चाहता है।

ये काम शुरू हुए 1995 से जब वे प्रोफेसर के पद से सेनानिवृत्त हुए। दो वर्षों के कठिन श्रम से उन्होंने टूटी-फूटी, ऊबड़-खाबड़, टेढ़म-मेढ़म-औनी-पौनी-मोटी-लम्बी-बौनी, ठोस-पोली लकड़ियों की अनगढ़ शक्लों को घिसा, चीरा, चमकाया और आकार दिया। पहली प्रदर्शनी 1997 में, उज्जैन में। अवसर था—अखिल भारतीय कालिदास प्रदर्शनी का आयोजन। 1997 में ही मुम्बई की जहाँगीर कला दीर्घा में ग्रुप शो में उनके काष्ठ शिल्प प्रदर्शित हुए। 1998 में नई दिल्ली की त्रिवेणी कला संगम में उनकी एकल प्रदर्शनी हुई। 2002 में फिर उज्जैन की अखिल भारतीय कला प्रदर्शनी में उनकी काष्ठ-कृतियाँ प्रदर्शित हुई और 2004 में मुम्बई में जहाँगीर कला दीर्घा में ही उनकी एकल प्रदर्शनी लगी। उनकी कृतियों को आदर मिला, अच्छी समीक्षाएँ मिलीं और साथी कलाकारों व दर्शकों का प्रेम और स्वीकृति।

नईम की पुत्री डॉ. समीरा नईम अंग्रेजी साहित्य पढ़ाती हैं। यद्यपि हिन्दी में लिखती हैं।

प्रोफेसर नईम, प्रिंसिपल नईम, कवि नईम, शिल्पकार नईम, सामाजिक नईम, सामाजिक कार्यकर्ता नईम, आन्दोलनकारी नईम, ललित कलाओं के रसिक नईम, पारिवारिक नईम, पार्टनर, साथी नईम...सबके नईम... अनेक रूप...। वे संगीत की गहरी पैठ रखते थे। संगीत सभाओं में जाते थे। देर तक, तल्लीन होकर शास्त्रीय (और लोक संगीत भी) संगीत सुनते थे। वे अनेक संगीतकारों, शिल्पकारों, शिक्षा शास्त्रियों, आन्दोलनकारियों के निकट सम्पर्क में रहते थे। कुमार गन्धर्व और उनके परिवार के साथ उनका गहरा रिश्ता था। कुमार जी के घर 'भानुकुल' में उनका आना-जाना एक पारिवारिक सदस्य के रूप में होता था। उनकी विनम्रता देखिए—उनके पास एक छड़ी थी जिसे कुमार गन्धर्व ने उन्हें भेंट किया था। वे कहते थे—'भई हमें शास्त्रीय संगीत को सुनने की थोड़ी बहुत तो तमीज है, वह इस छड़ी की वजह से है, क्योंकि यह कुमार जी की छड़ी है और इसमें भी संगीत है।' जब कुमार गन्धर्व नहीं रहे तो हर वर्ष उनकी याद में, उनकी बरसी पर होने वाले आयोजन में भी वे हमेशा जाते रहे। 8 जनवरी 2009 को तबियत ठीक न होने के बावजूद वे देवास के 'मल्हार स्मृति मन्दिर' सभागृह में उस्ताद रज्जबअली खाँ संगीत समारोह में संगीत सुनने गए थे। उस दिन उदय भुवालकर का ध्रुपद गायन था। बताते हैं प्रकाश कान्त—''उस रात बेहद ठंड थी। गर्म कपड़े

पहने, शॉल में लिपटे लोग भी काँप रहे थे। ठंड के मारे श्रोताओं की उपस्थिति भी कम थी। लेकिन नईम फिर भी बैठे थे–शॉल ओढ़े, टोपा लगाए।''

नईम के आयाम अछोर थे। वे देवास ही नहीं, देवास के बाहर म.प्र. और शेष भारत के अनेक परिवारों से जुड़े थे और उन परिवारों के बाशिन्दों को नियमित रूप से पत्र भेजते थे। उधर से उत्तर आए या न आए। लोगों से जुड़ना, उन्हें प्यार करना, उन्हें अपनाया, उन्हें अपनापन देना, उनसे दिल खोलना, उनका दिल खोलना, उनके दुख-सुख में साँझा करना उनका स्वभाव था। अनेक परिवारों के, नागार्जुन की तरह वे बड़े-बुजुर्ग थे। वे नाप-जोख कर रिश्ता नहीं बनाते थे। जिनसे उनके सम्बन्ध थे, प्राकृतिक थे, मिठास भरे, गहरे। वे, चाहे दूसरे लोग उन्हें फोन करें न करें, अपनी तरफ से अक्सर फोन करके भी सबका हालचाल लेते रहते थे। उन्हें प्यार में प्रतिदान की दरकार नहीं थी। वे तो देते थे, भरपूर। दिल्ली जैसे महाकाय शहर में किसी के घर फोन करके हालचाल जानने को 'बाहरी दखल' और किसी हद तक 'अवैध हस्तक्षेप' माना जाता है। कुछ लोग इकतरफा फोनकर्ताओं से पीड़ित रहते हैं भले ही फोन करने वाले केवल सहज मन से कुशलक्षेम ही जानना चाहते हों। खैर यहीं इसी जगह राजकपूर की फिल्म 'जिस देश में गंगा बहती है' के इस गीत की पंक्तियाँ याद आती हैं–'कुछ लोग जो ज्यादा जानते हैं, इन्सान को कम पहचानते हैं।' दिल्ली के परम 'जानकार समाज' में संवाद महज सेमिनारों में होता है या रसरंजन-गोष्ठियों में। बाकी सब बेकार। बहरहाल...देवास में नईम के साथ ऐसा नहीं था। कई बार तो, और देर रात में भी, नईम जी ने मुझे भी फोन करके मीठी डाँट पिलाई थी कि उनके पत्रों के उत्तर में विलम्ब क्यों? नईम ऐसे व्यक्ति थे कि उन्हें केवल प्रेम किया जा सकता था। देवास में वे लगभग आधी सदी रहे लेकिन वे हिन्दी के सम्पूर्ण समाज के साथ भी रहते रहे।

एक बात नईम के बारे में बताया जाना जरूरी है। वे बहुत मृदुल स्वभव के थे, छल छद्महीन, प्रपंच-रहित, मिलनसार, मृदुभाषी भी, मगर व्यक्ति, समय, व्यवस्था का आकलन करते समय, जीवन में और रचना में वे कभी भी साफगो होना छोड़ते नहीं थे। वे कसकर व्यंग्य करते थे। वे अपनी असहमति को छुपाने का हुनर नहीं जानते थे। यकीनन 'व्यंग्य' उनकी शक्ति भी था। वे परसाई को बहुत मानते थे। सच्चा लेखक–गद्यकार हो या पद्यकार, व्यंग्य के इस्तेमाल से बच नहीं सकता।

उनके जीवन का एक और पहलू है जिसके बारे में लोगों के पास कम जानकारी है। बातचीत होने पर उनकी सुपुत्री डॉ. समीरा नईम ने बताया था...वे जब कॉलेज में प्रिंसिपल थे तो वे डेपुटेशन पर एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा देशभर में स्थापित शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थान के देवास जिला केन्द्र में गए थे जिसमें जिले में माध्यमिक और प्राईमरी शिक्षकों को बेहतर शिक्षा-पद्धतियों का प्रशिक्षण दिया जाता था। नईम ने इसे एक महत्त्वपूर्ण, लोकप्रिय अभियान में बदल दिया। शुरूआत तो मजाक-मजाक में ही हुई पर स्वरूप गम्भीर होता गया। उन्होंने एक संस्थान की नींव डाली–'प्रो. नईम फाउंडेशन'। इस फाउंडेशन के जरिए वे एक दशक तक दूरदराज के योग्य शिक्षकों को जिला और राज्य स्तर पर पुरस्कृत कराते रहे। इसमें श्रीफल, शॉल, प्रशस्ति पत्र तो होता ही था, नकद राशि भी होती थी। इस फाउंडेशन से राज्य स्तर पर अनेक लोग जुड़े और फाउंडेशन के उद्देश्नों की पूर्ति में योगदान दिया।

कवि नईम का जन्म 1935 में मध्यप्रदेश के दमोह जिले के फतेहपुर गाँव में हुआ था। पिता अध्यापक थे। उन्होंने हिन्दी में सागर वि.वि. से एम. ए. किया। विभिन्न कॉलेजों में विभिन्न पदों पर रहकर, शिक्षण कार्य किया। 1995 में प्रिंसिपल के पद से सेवानिवृत्त हुए।

उनकी काव्य यात्रा 1959 के आसपास शुरू हुई और अन्त तक, अर्थात् बीमारी के पहले तक चलती रही। उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हैं और कई होने वाली हैं। प्रकाशित पुस्तकें हैं–

1. पथराई आँखें, 2. बातों ही बातों में, 3. लिख सकूँ तो, 4. पहला दिन मेरे आषाढ़ का

जानकार जानते होंगे कि नईम ने एक पत्रिका भी संपादित की थी–'जरूरत'। इसकी शुरूआत 1984 में हुई थी। हालाँकि कुल आठ अंक निकल पाए मगर हर अंक विशेषांक जैसा होता था। 'जरूरत' ने भगत सिंह और शमशेर बहादुर सिंह पर विशेष सामग्री प्रकाशित की थी। छोटी पत्रिकाओं के इतिहास में 'जरूरत' की भी अपनी खास जगह रहेगी।

उन्हें अनेक पुरस्कार/सम्मान प्राप्त हुए। म.प्र. साहित्य परिषद ने उनकी कृति 'पथराई आँखें', को 'दुष्यन्त पुरस्कार' दिया। 'मधुबन', भोपाल की संस्था ने उन्हें 'श्रेष्ठ कला-आचार्य' सम्मान दिया। डॉ. शम्भुनाथ सिंह, शोध संस्थान ने उन्हें उनके काव्य-संग्रह 'बातों ही बातों में' के लिए पुरस्कृत किया। म.प्र. का 'भवभूति अलंकरण', मुम्बई का 'परिवार पुरस्कार' तथा उ.प्र. हिन्दी संस्थान का 'साहित्य भूषण' पुरस्कार भी उन्हें मिला।

जब वे मृत्यु से जूझ रहे थे...लगातार तीन माह...पेरेलेसिस का भयंकर अटैक...

बेहोशी...। कभी होश में आते...आपरेशन भी हुआ...कुछ उम्मीद भी बँधती उनकी खुली आँखों को देखकर...मगर मौन...गहरा। एक बार आई.सी.यू. से बाहर भी आए लेकिन फिर वहीं लौटना पड़ा। ऑक्सीजन...वेंटिलेटर...। इसी दरमियान उनका जन्मदिन : एक अप्रैल भी गुजरा...मगर।

दूरदर्शन और आकाशवाणी के कई केन्द्रों द्वारा आयोजित कवि सम्मेलनों में भी उन्होंने काव्य पाठ किया था। मेरे आग्रह पर वे सन् 2003 में केन्द्रीय कार्यक्रम निर्माण केन्द्र (दूरदर्शन) दिल्ली द्वारा आयोजित एक कवि सम्मेलन में शिरकत करने आए थे। आह! अविस्मरणीय है वह, उनके साथ बिताया गया समय...। खूब बातें हुई थीं। मुझे और उन्हें बेहद अफसोस रहा कि 'टाइट प्रोग्राम' के कारण वे हमारे घर न आ सके। उसके बाद जब मैं दूरदर्शन के दिल्ली केन्द्र में स्थानांतरित हुआ तो कई बार मैंने बुलाना चाहा लेकिन वे किसी-न-किसी वजह से नहीं आ पाए। अफसोस तो इसका भी है।

लेकिन...उनका निर्व्याज प्यार...उनके अनेक पत्र...अपने परिवार जैसे हो चले उनके परिवारजन...यही यकीन दिलाते रहते हैं कि नईम कहीं गए नहीं, वे सृजन की स्मृतियों और सुगन्धों में, हमारे रक्त में उछलती-खेलती जीवन-तरंगों में समा गए और इसीलिए वे आज भी जीवित हैं। असल में उन्होंने तो मौत को ही अंडरग्राउंड कर दिया।

1995 में उनकी षष्टिपूर्वि मनाई गई थी। शहर का बड़ा सभागार उनके चाहने वालों से भरा था। ठीक यही हुआ 10 अप्रैल 2009 को। उनकी शवयात्रा में इतने लोग, ऐसा हुजूम शामिल था...जिसे देखकर लगता था—किसी पीर की अन्तिम यात्रा है। हाँ वे, पीर ही थे, जो कभी नहीं मरते। अन्तिम यात्रा में शामिल सैंकड़ों लोगों को मानो नईम हँस-हँस कर कह रहे थे—'शादियों में आ सको, न सको—लेकिन आना मेरे जनाजे में!'

नईम एक कबीरी यात्रा के, एक अहम् पड़ाव का नाम है और यात्रा अभी जारी है।

159, आकाश दर्शन अपार्टमेन्ट्स, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091/ मो. 9868240906

देशांतर

आधे सफर की आधी कहानी

प्रभात रंजन

जीवन वह नहीं होता जो कोई जीता है बल्कि वह होता है जिसे कोई याद रखता है और दोबारा याद करते हुए जिस क्रम से उसे वह याद करता है ये पंक्तियाँ बेहद लोकप्रिय और चर्चित लेखक ग्राब्रियल गार्सिया मार्केस (मार्खेज) ने अपनी आत्मकथा लिविंग टु टेल द टेल के आरम्भ में लिखी हैं। शायद एक जीवनीकार यही काम करता है, अपने विषय के जीवन को शब्दों से इस तरह गढ़ता है कि वह यादगार बन जाता है। गेराल्ड मार्टिन द्वारा लिखित मार्केस की आधिकारिक बताई जा रही जीवनी ग्राब्रिएल गार्सिया मार्केस : ए लाईफ को पढ़ते हुए भी यह बात कही जा सकती है। 642 पृष्ठों की इस किताब में मार्टिन ने लगभग मिथक में बदल चुके लेखक मार्केस की जीवन-कथा उन्हीं सूत्रों के सहारे गढ़ने की कोशिश की है जिसके संकेत मार्केस के साहित्य, भेंटवार्ताओं इत्यादि में मिलते रहे हैं। मार्केस न केवल ऊँचे दर्जे के लेखक हैं बल्कि उनकी शख्सियत भी बहुत बड़ी है। ऐसे व्यक्तित्व की जीवनी लिखना चुनौतीपूर्ण होता है।

मार्केस ने स्वयं अपने बारे में लिखा है कि *मेरा शुरूआती जीवन कठिन लेकिन जादुई था और बाद का जीवन सार्वजनिक और रहस्यमयी*। वास्तव में, मार्केस का जीवन बहुआयामी रहा है—न केवल लेखक के रूप में बल्कि एक सार्वजनिक व्यक्तित्व और पत्रकार के रूप में भी। वे एक ऐसे लोकप्रिय लेखक हैं जिन्हें पाठकों का अपार प्यार मिला तो विवादों से भी जिनका नाता निरन्तर बना रहा। मार्केस को पहला *ग्लोबल लेखक* मानने वाले गेराल्ड मार्टिन ने न केवल इस *लिविंग लीजेंड* की जीवनी लिखने की चुनौती को स्वीकार किया है बल्कि पर्याप्त मेहनत से, अनेक स्रोतों के आधार पर उसे पन्नों पर उतारा भी है। *जादुई यथार्थवाद* की शैली को लोकप्रिय बनाने वाले इस लेखक की जीवनी को लिखने से पहले मार्टिन ने करीब सत्रह सालों तक मार्केस के जीवन और साहित्य को लेकर शोध किया।

प्रश्न उठता है कि जब मार्केस ने कुछ ही समय पहले अपनी आत्मकथा लिखी है तो फिर आखिर उनकी यह जीवनी क्यों? वह भी उनके जीते जी? इसका एक सन्तोषजनक जवाब यह हो सकता है कि मार्केस ने अपनी आत्मकथा *लिविंग टु टेल द टेल* में अपने जीवन के आरम्भिक वर्षों के बारे में लिखा है, उन वर्षों के बारे में जब उनके अनेक सपनों में एक सपना लेखक बनने का भी था। जब मार्केस लेखक बनने का निश्चय करते हैं तब आत्मकथा समाप्त हो जाती है। आत्मकथा में

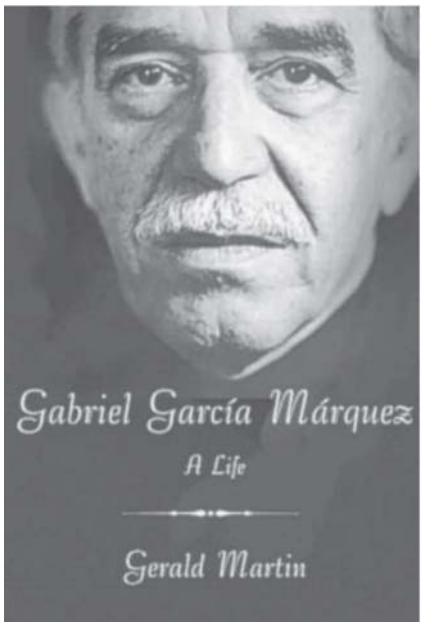

मार्केस ने लेखक बनने के सपने और अपने आरम्भिक संघर्षों के बारे में विस्तार से लिखा है। जीवनी में गेराल्ड मार्टिन ने नोबेल पुरस्कार विजेता इस लेखक के लेखकीय जीवन को फोकस में रखा है। इसमें एक साधारण व्यक्ति के असाधारण लेखक बनने की कहानी है।

1927 में कोलंबिया के एक छोटे-से कस्बे अराकाटक में जन्मे इस विश्वप्रसिद्ध लेखक का सबसे बड़ा लेखकीय *ऑब्शेसन* अपने नाना के घर में बिताए गए बचपन के वर्ष रहे हैं जिनके बारे में पहले भी काफी कुछ लिखा जा चुका है और जिसे *वन हंड्रेड ईयर्स ऑफ सॉलीट्यूड* में मकोन्दो कस्बे के रूप में उन्होंने अमर बना दिया। नाना की विशाल हवेली से लेखक का ऐसा लगाव था कि अपनी आत्मकथा का आरम्भ उन्होंने उस घटना से किया है जब उनकी माँ उन्हें बताती है कि नाना की उस हवेली को बेचना है और इसके लिए मार्केस बरसों बाद नाना के उस घर को दोबारा देखने जाते हैं जिससे उनके बचपन की यादें बावस्ता थीं। जीवनीकार के अनुसार वास्तव में उसी यात्रा के दौरान उस घर को देखते हुए उनके मन में कुछ बहुत बड़ा लिखने का विचार आया, जो बहुत बाद में *वन हंड्रेड ईयर्स ऑफ सॉलीट्यूड* नामक उपन्यास की शक्ल में ढला। जीवनीकार के अनुसार 1950 का यह वाकया मार्केस के आरम्भिक जीवन की सबसे यादगार घटना है, यादगार इस मायने में कि इसमें उनके लेखक बनने का सूत्र छिपा है।

गेराल्ड मार्टिन ने मार्केस के आरम्भिक जीवन और पिता की ओर से गार्सिया तथा माँ की ओर से मार्केस के परिवारों के बारे में काफी विस्तार से लिखा है। अपने नाना कर्नल निकोलस आर. मार्केस की वीरता और मर्दानगी के अनेक किस्से मार्केस ने लिखे हैं। इस जीवनी में केवल उनके ही नहीं उनके अनेक पूर्वजों के बारे में भी जीवनीकार ने विस्तार से लिखा है। पुस्तक का बहुत बड़ा हिस्सा पूर्वजों के इन्हीं किस्सों को समर्पित है, जिसे कुछ हद तक अनावश्यक भी कहा जा सकता है। जीवनीकार ने 1950 के दशक में मार्केस के बेरोजगारी के दिनों की कथा भी इसमें विस्तार से कही है, पेरिस में भयानक गरीबी में बिताए गए दिनों की कथा। जिसके बारे में एक स्थान पर मार्टिन ने लिखा है कि एक बार पेरिस में कई दिनों की भूख से हारकर उन्होंने अपने एक दोस्त की कचरापेटी से कचरा निकाला और उसमें जो कुछ भी खाने लायक बचा था उसे उसी समय और वहीं खा लिया। उन दिनों का एक प्रसंग यह है कि गरीबी के कारण वे करीब एक साल तक एक वेश्यालय की बरसाती में कम किराए पर रहे। प्रसंगवश, वेश्याओं का जीवन भी मार्केस के लेखन का एक बहुत बड़ा ऑबशेसन रहा है। अपनी आत्मकथा में भी उन्होंने वेश्याओं के बारे में लिखा है। बाद में उन्होंने वेश्याओं के जीवन को आधार बनाकर सम्पूर्ण उपन्यास लिखा–*मेमोरीज ऑफ माई मेलांकली ह्योर्स (मेरी उदास वेश्याओं की स्मृतियाँ)*।

इसी तरह, पेरिस के दिनों की उनकी प्रेमिका के बारे में भी जीवनीकार ने लिखा है और आजीविका के लिए उनके द्वारा किए गए अनेक कामों के बारे में भी। 1958 में उनकी शादी मर्सिडीज नामक उसी युवती से हुई जिससे वे महज 9 साल की उम्र से प्यार करते थे। प्रसंगवश, जीवनी लिखने के दौरान मार्टिन ने मार्केस की पत्नी से भी बातचीत की है और उनके दो बेटों से भी, जिनमें से एक रोड्रिगो गार्सिया भी हैं जो हॉलीवुड में फिल्मों का लेखन और निर्देशन करते हैं। कुल मिलाकर, पुस्तक में मार्केस के जीवन के निजी प्रसंग तो हैं लेकिन उनको लेखक ने उसी सीमा तक स्थान दिया है जहाँ तक उनके ऊपर निजता में हस्तक्षेप का आरोप नहीं लगे। लेखक के रहस्यमयी जीवन के बारे में पुस्तक में संकेत भर है। वास्तव में, पुस्तक का उद्देश्य *मेकिंग ऑफ मार्केस* के रहस्यों का अनावरण अधिक है इसलिए निजी प्रसंगों का वर्णन करते हुए जीवनीकार की दृष्टि लेखक के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण है।

मार्टिन ने अपनी पुस्तक में यह दिखाया है कि असल में मार्केस ने अपने लम्बे जीवन काल में एक तरह से दो जीवन जिए हैं–एक जीवन *वन हंड्रेड ईयर्स ऑफ सॉलीट्यूड* के प्रकाशन से पहले का है और दूसरा उस उपन्यास के प्रकाशन के बाद का है। 1967 में प्रकाशित इस उपन्यास ने उस मार्केस को बनाया जिसे आज दुनिया भर के पाठक जादुई यथार्थवाद के अद्‌भुत चितेरे के रूप में जानते हैं। इस उपन्यास के प्रकाशन के समय उनकी उम्र 40 साल थी। जीवनीकार ने इसका दिलचस्प बयान अपनी पुस्तक में किया है कि किस तरह इस युगांतकारी समझे गए उपन्यास का आइडिया उनके दिमाग में कौंधा। 1965 में एक दिन वे गाड़ी से मेक्सिको सिटी से कहीं बाहर जा रहे थे। अचानक उनके दिमाग में कुछ कौंधा, गाड़ी मोड़कर वे वापस घर आए और 18 महीने तक खुद को कमरे में बन्द कर लिया। 18 महीने के बाद जब वे बाहर आए तो उनके हाथ में उस उपन्यास की पांडुलिपि थी जिसने उनको 1982 में नोबेल पुरस्कार दिलवाया और उनकी पत्नी के हाथों में 18 महीने के भुगतान न किए गए तरह-तरह के बिल। जिस तरह के अविश्वसनीय यथार्थ के किस्से मार्केस ने लिखे हैं उसी तरह उनको लेकर भी इस तरह के अनेक किस्से प्रचलित हैं, जिनमें से कुछ का जीवनीकार ने विश्लेषण भी किया है।

यह उनका पहला उपन्यास नहीं था। वे कहानियाँ और उपन्यास बहुत दिनों से लिख रहे थे और *वन हंड्रेड ईयर्स ऑफ सॉलीट्यूड* प्रकाशित होने वाली उनकी चौथी किताब थी। *लीफ स्टॉर्म, इन एविल ऑवर* नामक उपन्यास और *नो वन राइट्स टू द कर्नल* नामक लघु उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। लेकिन जैसा कि जीवनीकार ने लिखा है कि वह लेखकीय मुहावरा जिसे मार्केस की पहचान के बतौर जाना जाता है, लेखक ने *वन हंड्रेड ईयर्स ऑफ सॉलीट्यूड* में आविष्कृत किया। मार्केस की इस लेखन-शैली के बारे में गेराल्ड मार्टिन ने लिखा है कि लेखक के रूप में उनकी महत्वाकांक्षा यह थी कि लेखन की ऐसी शैली विकसित की जाए जिसमें उनकी नानी के किस्से सुनाने की शैली और काफ्का की लेखन शैली मिलकर एक हो जाएँ।

बहरहाल, अपनी प्रसिद्धि

को लेकर मार्केस अक्सर मजाक करते रहते हैं। उन्होंने कई बार मजाक में कहा है कि वे इस बात से वाकिफ थे कि उनको प्रसिद्ध होना है। कहते हैं कि अपनी पत्नी को उन्होंने शादी के समय ही बता दिया था कि जब उनकी उम्र चालीस साल की होगी तब वे एक *मास्टरपीस* लिखेंगे। एक बार अपनी एक बातचीत में उन्होंने कहा था कि जब वे पैदा हुए उस समय भी प्रसिद्ध थे, यह अलग बात है कि उस समय इस बात को केवल वे ही जानते थे। हालांकि मार्केस ऐसे लेखक नहीं हैं जिनके लेखन का मात्र इस एक उपन्यास के आधार पर आकलन किया जाए। आलोचकों ने उनके अन्य उपन्यासों *लव इन द टाईम ऑफ कॉलरा, ऑटम ऑफ द पैट्रिआर्क* को भी विश्वस्तरीय माना है। जीवनीकार के अनुसार मार्केस की अपनी नजर में उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास *ऑटम ऑफ द पैट्रिआर्क* है, जिसमें किसी अनाम कैरेबियाई द्वीप के तानाशाह की कहानी है।

समाज के निम्न तबके के प्रति सहानुभूति रखनेवाले इस वामपंथी लेखक को अक्सर अपनी राजनीति के कारण आलोचना का शिकार बनना पड़ा है। मार्केस पर उनके आलोचक यह आरोप भी लगाते रहे हैं कि प्रसिद्ध लेखक बनने के बाद अपनी प्रसिद्धि का फायदा उठाकर इन्होंने दुनिया के बड़े-बड़े नेताओं से सम्बन्ध स्थापित किए। फिडेल कास्ट्रो से अपनी मित्रता के कारण लैटिन अमेरिका में उनकी आलोचना होती रही है क्योंकि उन देशों में फिडेल को तानाशाह के रूप में देखा जाता है। एक बार लैटिन अमेरिका के एक अन्य प्रसिद्ध लेखक मारियो वर्गास ल्योसा ने भी मार्केस और फिडेल के सम्बन्धों को लेकर बड़ी भद्दी टिप्पणी की थी। लेकिन इस सबके बावजूद फिडेल के प्रति मार्केस की निष्ठा में किसी तरह की कमी नहीं आई, जिनको वे बोलीवार के बाद लैटिन अमेरिका के इतिहास की दूसरी सबसे बड़ी शख्सियत मानते हैं। मार्टिन ने एक स्थान पर लिखा है कि एक बार जब फिडेल कोलंबिया की यात्रा पर आए तो मार्केस ने खुद पहल की और अंगरक्षक के रूप में उनके साथ-साथ रहे। एक दफा किसी पत्रकार ने जब उनसे सवाल किया कि फिडेल कास्त्रो के साथ उनकी क्या बातचीत होती है तो मार्केस का जवाब था कि फिडेल उनके प्रशंसक हैं और वे उनके साथ अक्सर अपने उपन्यास के प्लॉट डिस्कस किया करते हैं।

गाब्रिएल गार्सिया मार्केस : ए लाईफ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मार्केस के उपन्यासों की ही तरह यह बेहद पठनीय है। मार्केस के अनेक उपन्यासों, उनकी राजनीति, उनके जीवन से जुड़े छोटे-बड़े प्रसंगों का जीवनीकार ने बड़ी गहराई से विश्लेषण किया है। लेकिन यह जीवनी एक तरह से मार्केस के मिथकीकरण का प्रयास अधिक प्रतीत होती है। शायद इसी कारण उनके पूर्वजों की गाथाएँ बड़े विस्तार से बताई गई हैं। जिस तरह मार्केस विवादास्पद सवालों को टाल जाते रहे हैं उसी तरह जीवनीकार ने भी एक तरह से उन प्रसंगों को इस आधिकारिक कही जा रही जीवनी में भी टाल दिया है। इस जीवनी के सन्दर्भ में मुझे विश्व प्रसिद्ध चित्रकार वॉन गॉग पर इरविंग स्टोन द्वारा लिखित उपन्यास 'लस्ट फॉर लाइफ' की भी याद आती है जो वस्तुतः उनकी जीवनी ही है। इसी तरह महान चित्रकार पाब्लो पिकासो की माधुरी पुरंदरे द्वारा लिखी जीवनी (पिकासो, संवाद प्रकाशन, मेरठ), कुछ समय पहले प्रकाशित प्रसिद्ध लेखक वी. एस.नायपॉल की आधिकारिक जीवन की भी चर्चा की जा सकती है। पैट्रिक फ्रेंच लिखित *द वर्ल्ड इज ह्वाट इट इज* नामक इस जीवनी को इसलिए याद किया जाता है कि इसने नायपॉल के लेखकीय आभा-मंडल को ध्वस्त कर दिया है। उसमें जीवनीकार की निर्ममता काबिले- तारीफ है। मार्केस की इस जीवनी में इसी का अभाव है। इसमें उनके जीवन और साहित्य के बारे में कुछ नया नहीं लिखा गया है। बहरहाल, जीवनीकार ने बताया है कि उनके जीवन से सम्बन्धित करीब 2000 पृष्ठ उनके पास अप्रकाशित हैं। हो सकता है भविष्य में कभी उनका प्रकाशन हो तो मार्केस के जीवन से सम्बन्धित कुछ नए तथ्य प्रकाश में आएँ, कुछ नए पहलू उजागर हों। तब तक हम इन्तजार कर ही सकते हैं।

गाब्रिएल गार्सिया मार्केस : ए लाईफ/ गेराल्ड मार्टिन/ ब्लूम्सबरी/ मूल्य : 899 रुपये।

93, एम्स अपार्टमेंट्स, मयूर कुंज, (नोएडा चेकपोस्ट के नजदीक), दिल्ली-110096/ मो. 9891363062

फिल्म-वार्ता

फिल्म-वार्ता

धुनों की अविस्मरणीय यात्रा

मुकेश कुमार

अभी ज्यादा वक्त नहीं गुजरा है जब रेडियो पर फिल्मी गानों की उद्घोषणा के समय गाने के बोल के साथ-साथ गायक-गायिका और संगीतकार का नाम भी जरूर बताया जाता था। फिल्म संगीत के चाहने वाले भी संगीतकार का नाम याद रखना उतना ही जरूरी समझते थे जितना कि गायक-गायिका, नायक-नायिका और फिल्म के नाम को। ये किसी के भी फिल्म ज्ञान की कसौटी थी कि वह गाना सुनकर बता दे कि उसकी धुन किसने बनाई है और संगीत किसका है। लोग इस पर शर्तें रखते थे, आपस में बहस करते थे और झगड़ तक पड़ते थे। मगर वक्त ने कुछ ऐसा सितम ढाया कि अब रेडियो पर गाने सुनते वक्त अपेक्षा नहीं रख सकते कि उससे जुड़े अन्य विवरण भी दिए जाएँगे। न आप गायक को पहचान सकते हैं और न ही ये जान सकते हैं कि उसका संगीत किसने दिया है। टेलीविजन तो इस मामले में और भी निर्मम साबित हुआ है। दृश्यों की प्रधानता ने संगीत को ही पीछे ढकेल दिया है। टी.वी.-रेडियो ने मिलकर उपरोक्त विवरणों को महत्वहीन बना दिया है। फिल्म संगीत से उसे गढ़ने वालों की पहचान तक छीन ली है, उन्हें उनके हक से वंचित कर दिया है। ये एक बहुत बड़ी ट्रेजेडी है। फिल्म के चलने में गानों के संगीत का महत्त्व तो कम नहीं हुआ है और शायद संगीतकार की अहमियत भी कम नहीं हुई है, मगर उन्हें गुमनामी के अन्धेरे में धकेल दिया गया है। अब अगर आप एआर रहमान जैसे मशहूर नहीं हैं तो आप कहीं नहीं है। कोई आपको आपके संगीत से नहीं पहचानेगा और न ही अच्छे संगीत के लिए आपको दाद ही मिल पाएगी। पुराने संगीतकारों की तो बात ही छोड़ दीजिए। अनिल विश्वास, खेमचन्द प्रकाश, सी रामचन्द्र, नौशाद, एस.डी.बर्मन अब सुदूर अतीत की बात हो गए हैं। नई पीढ़ी तो इनसे पूरी तरह नावाकिफ है।

इस तरह के नकारात्मक परिदृश्य में संगीतकारों के योगदान को रेखांकित करते हुए **धुनों की यात्रा** जैसी किताब का आना निश्चय ही एक सुखद अनुभूति है। फिल्म संगीत के लगभग पचहत्तर साल के इतिहास के अधिकतम उपलब्ध विवरणों को एकत्र करके सँजोना और इस दौरान आई-गई ढेरों प्रवृत्तियों का अध्ययन करके राजनीतिक-सामाजिक सन्दर्भों और संगीत की बारीकियों के साथ निष्कर्ष देना श्रमसाध्य तो है ही, एक परिपक्व दृष्टि और बहुरुचिसम्पन्नता की माँग भी करता है। **धुनों की यात्रा** तो केवल इसी लिहाज से महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि यह भारतीय फिल्म संगीत का एक ऐतिहासिक दस्तावेज प्रस्तुत करती है। सूचना की दृष्टि से पुस्तक की एक-एक पंक्ति मूल्यवान हो जाती है। यह एक बृहत् सन्दर्भ ग्रन्थ की तरह है जिसमें विभिन्न दौर के फिल्म संगीत और उसके फनकारों के योगदान को खँगाला जा सकता है। आज यह कल्पना ही की जा सकती है कि सन् 1931 में फिरोज शाह मिस्त्री के संगीत से बद्ध पहली फिल्म *आलम आरा* जब थिएटरों में पहुँची होगी तो उसने कैसा जादू किया होगा। डब्ल्यू.एस.खान का गाया फिल्म इतिहास का पहला गाना *दे दे खुदा के नाम पर प्यारे ताक़त है गर देने की* तब लोगों की ज़बान पर चढ़ गया था। इसके पहले मूक फिल्मों के दौर में सिनेमा हॉल में परदे के पास बैठकर आर्केस्ट्रा फिल्म के हिसाब से संगीत देता था। लेकिन जाहिर है कि जब दर्शकों ने अदाकारों को परदे पर गाते सुना तो वे चमत्कृत रह गए। लेकिन यह तो एक शुरूआत थी उस शानदार सिलसिले में जिसने भारतीय फिल्म इंडस्ट्री को ही पूरी तरह से बदल डाला। संगीत फिल्मों की जान बन गया। गीत-संगीत फिल्मों की सफलता-असफलता की कसौटी बन गए।

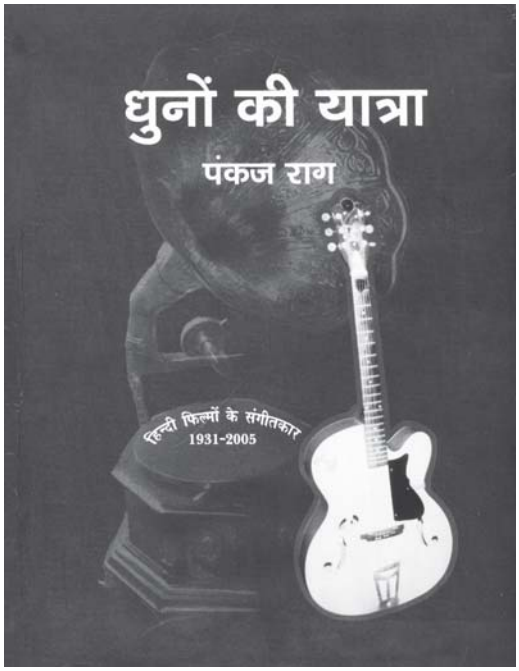

फिल्म संगीत के इस सफर पर चलने वाले कारवाँ में हजारों-लाखों लोग शामिल हुए। बहुत सारे मुसाफिर आए और अपनी-अपनी मंजिलें तय करके चले गए। लेकिन शुरू के इस दौर की बुनियाद रखने वाले थे आर.सी. बोराल, पंकज मलिक, मास्टर कृष्णराव और मधुलाल मास्टर जैसे संगीत के मर्मज्ञ। हालाँकि इस दौर के

संगीत की अपनी सीमाएँ थीं। एक तो वह ज्यादातर व्याख्यात्मक होता था और उसका उद्देश्य कहानी को आगे बढ़ाना मात्र था। यह शुरूआती फिल्म-विधा पर पारसी और मराठी रंगमंच का स्वाभाविक प्रभाव था। दूसरे चूँकि फिल्म के नायक-नायिका ही अपने गाने गाते थे और अक्सर वे अच्छे गायक नहीं होते थे, इसलिए संगीत को आसान बनाना होता था और इसलिए उसमें वैसी खूबी पैदा नहीं हो पाती थी। कई बार तो सीधी-सादी तुकबंदियाँ ही कर दी जाती थीं। इसके अलावा इस दौर में राग-रागिनियों का शुद्ध रूप इस्तेमाल किया जाता था जिससे वैसी मिठास पैदा नहीं हो पाती थी। यह धीरे-धीरे ही आना शुरू हुआ और इसीलिए हम पाते हैं कि लगभग दो दशक बाद फिल्म संगीत एक नई पहचान के साथ उपस्थित होता है। संगीतकार आर.सी. बोराल का इसमें खास योगदान रहा। उन्हें संगीत की समझ तो थी ही, वे वाद्ययन्त्रों की भी अच्छी जानकारी रखते थे। उन्होंने फिल्म संगीत में कई नए वाद्य यन्त्रों का प्रयोग शुरू किया। हिन्दी फिल्मों में *धूप छाँव* के गीत... *मैं खुश होना चाहूँ, खुश हो न सकूँ*...से पार्श्व गायन की शुरूआत करने वाले भी आर.सी. बोराल ही थे। प्रसिद्ध गायक कुन्दन लाल सहगल की खोज का श्रेय बेशक हरिश्चन्द्र बाली को जाता है मगर बोराल ने ही उनकी प्रतिभा को सही ढंग से पहचाना और उसका इस्तेमाल भी किया। सहगल के साथ पंकज मलिक की भी जोड़ी खूब जमी, खासतौर पर फिल्म *यहूदी की लड़की* में। इस फिल्म का एक-एक गाना सुपरहिट रहा। फिल्म संगीत के इस अपेक्षाकृत शान्त दौर में हलचलें पैदा कीं पूर्वी बंगाल के क्रान्तिकारी संगीतकार अनिल विश्वास ने। संगीत की गहरी, विविधतापूर्ण और विस्तृत समझ रखने वाले अनिल विश्वास ने फिल्म संगीत में ढेर सारे रंग भर दिए। उन्होंने पश्चिम बंगाल के लोक संगीत का तो जमकर इस्तेमाल किया ही, गजल, ठुमरी आदि का प्रयोग भी नए अन्दाज में करना शुरू कर दिया। फिल्म संगीत में आर्केस्ट्रा और कोरस के प्रभाव को स्थापित करने का श्रेय भी उन्हीं को जाता है। यह समय राजनीतिक उथल-पुथल का था और धुनों की यात्रा के अनुसार इस कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ने ''राजनीतिक-सांस्कृतिक धारा के संगीत का सूत्रपात किया, और इसे बहुत आगे भी ले गया। लोकशैली की धुन को राजनीतिक अर्थव्यंजकता देने में कोरस का लाजवाब प्रयोग उन्हीं की देन है, जिसे आगे चलकर सलिल चौधरी ने नया विस्तार और नई दिशा दी।'' पाँचवें दशक तक आते-आते फिल्म संगीत का एक नया मुहावरा आकार ले चुका था। सामन्तवादी ढंग से महफिली संगीत की विदाई हो चुकी थी और उसकी जगह लोकशैली का प्रभुत्व कायम होने लगा था। फिल्म संगीत का स्वर्णकाल भी यहीं से शुरू होता है। अनिल विश्वास इस मुहिम के अगुआ तो थे ही मगर गुलाम हैदर और नौशाद के संगीत ने भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। यही दौर था जब लता मंगेशकर जैसी गायिका फिल्म संगीत के आकाश पर उदित हुई और फिर पूरी सदी पर छा गई। लता की प्रतिभा को पहचानने का श्रेय गुलाम हैदर को जाता है, मगर उन्हें स्टार का रुतबा मिला खेमचन्द प्रकाश के संगीत की बदौलत। रातों रात लोगों की जबान पर हमेशा के लिए चढ़ जाने वाला लता की आवाज में गाया गया गीत *आएगा आएगा आने वाला* खेमचन्द प्रकाश की कालजयी कंपोजीशन है। खेमचन्द प्रकाश और अन्य संगीतकारों के संगीत को करीब से देखने के बाद ही समझा जा सकता है कि किसी गायक-गायिका की प्रतिभा को समझ-सँवारकर संगीतकार उसे कहाँ-से-कहाँ पहुँचा सकता है। यों तो उनके हिट संगीत के लिए कई गानों और फिल्मों का जिक्र किया जा सकता है मगर *महल* तो उनका अमर साउंड ट्रेक है। पहाड़ी शैली में कम्पोज किया गया *मुश्किल है बहुत मुश्किल, चाहत को भुला देना* और *दिल ने फिर याद किया बेवफा लौट भी आ* जैसे लता के गीतों में कंपोजीशन का एक बेहद परिपक्व जादू है।

इसी दौर के सबसे मकबूल संगीतकार नौशाद थे। वे संगीत की दुनिया के पहले सुपर स्टार कहे जा सकते हैं। नौशाद पहले संगीतकार थे जिन्होंने अपनी शख्सियत और अपने हुनर से संगीतकार का दर्जा भी नायक या निर्देशक के समकक्ष ला खड़ा किया। पुस्तक में नौशाद के योगदान की चर्चा और मूल्यांकन उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप ही पूरे विस्तार के साथ किया गया है। शास्त्रीय संगीत का सुगम रूप गढ़ने में उन्हें महारत हासिल थी। उसमें लोकरंग का भी बहुत ही समझदारी से इस्तेमाल करते हुए उन्होंने सरस और मीठे गीतों की रचना की। पचास साल के अपने फिल्म-संगीत के कैरियर में उन्होंने अन्तिम समय तक इसे थामकर रखा। *अनमोल घड़ी* (आवाज दे कहाँ है...) से लेकर *दिल्लगी, शाहजहाँ, अनोखी अदा, अन्दाज, बैजू बावरा, मदर इंडिया, मुगल ए आजम* आदि फिल्में इसकी गवाह हैं। नौशाद का जादू बहुत लम्बे समय तक कायम रहा। वे आठवें दशक तक सक्रिय रहे मगर धीरे-धीरे बदले जमाने की जरूरतों और आस्वादों ने उन्हें अप्रासंगिक बना दिया। लेकिन इस लम्बे कालखंड में उनका अमिट हस्ताक्षर दर्ज है। पाँचवें दशक के ही महत्त्वपूर्ण संगीतकारों में एक नाम सी रामचन्द्र का है। लेखक के अनुसार रामचन्द्र को एक तरह से विद्रोही संगीतकार भी कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने संगीत की कई परिपाटियों और मान्यताओं को ठुकराकर पाँचवें दशक में ही कई विदेशी संगीत शैलियों के साथ भी प्रयोग किए। साथ ही शुद्ध भारतीय मेलोडी को निखार और तराशकर लता के स्वर में ऊँचाईयों तक पहुँचाने वाली रचनाएँ भी सी.रामचन्द्र के ही हिस्से आएँगी। सी.रामचन्द्र के पास हास्य-व्यंग्यप्रधान गीतों को एक अलग अन्दाज में पेश करने का अनूठा हुनर था। इसीलिए उनके संगीतबद्ध मजाहिया गाने बहुत लोकप्रिय हुए। *भोली सूरत दिल के खोटे*...से लेकर *मेरी जान संडे के संडे तक* इस खास वर्ग में उनकी बादशाहत को कोई चुनौती नहीं दे पाया। लेकिन इन गीतों के आधार पर यह मान लेना भूल होगी कि सी. रामचन्द्र हल्के-फुल्के गीतों के संगीतकार ही थे। इसके विपरीत उन्होंने बहुत ही गम्भीर काम भी किया और उन्हें लता मंगेशकर के गायन को एक ऊँचाई तक ले जाने का श्रेय भी दिया जाता है।

पाँचवें दशक में विकसित संगीत शैलियाँ आगे भी जारी रहीं। भारतीय संगीत पर आधारित संगीत रचनाओं के दौर को आगे बढ़ाने वालों में एस.एन. त्रिपाठी भी थे। मेलोडी पर उनका खास अधिकार था। हालाँकि उन्होंने अधिकांशतः धार्मिक और पौराणिक फिल्मों में काम किया जिससे वे एक तरह से बँध गए, मगर इन सीमाओं के बावजूद उन्होंने एक से एक मधुर गीत बनाए। छठे दशक में ही चित्रगुप्त और

वसंत देसाई जैसे संगीतकार भी सक्रिय थे और सक्रिय नहीं थे, बल्कि उन्होंने ऐसे गीतों की रचना की जो आज तक याद किए जाते हैं। चित्रगुप्त ने लता से कुछ बेहतरीन गाने गवाए। उनकी बदकिस्मती शायद यह रही कि उन्हें बड़े बैनर की फिल्में नहीं मिलीं जिससे उनकी वैसी चर्चा नहीं हुई जैसी कि होनी चाहिए थी। इसी समय एक और संगीतकार ने अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया और वह थे गुलाम मुहम्मद। 1954 में आई *मिर्जा गालिब* उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण फिल्म थी। इस फिल्म से ही वे चोटी के संगीतकारों में गिने जाने लगे थे। रफी, तलत और सुरैया की आवाजों में गालिक की गजलों को सुनना एक अविस्मरणीय अनुभव है। गुलाम मुहम्मद ने परम्परा से हटकर गालिब की गजलों को नए अन्दाज में ढाला था। लेखक के मुताबिक गजलों को नया रूप देने का श्रेय उन्हें ही दिया जाएगा क्योंकि इस समय तक नौशाद और मदनमोहन की गजलों का सुनहरा दौर अभी शुरू भी नहीं हुआ था।

फिल्म संगीत के इस सुनहरे दौर की एक और पहचान बने सचिन देव बर्मन। उनके गानों में एक नई ताजगी थी, बागों की खुशबू थी, हवाओं की चहल-पहल थी और प्रकृति के नाना रूपों की ठिठोली थी। हालाँकि त्रिपुरा से वाया कलकत्ता होते हुए मुम्बई वे गायक के रूप में ही पहुँचे थे और उन्होंने अपना पहला गाना *धीरे से आजा रे बगियन में* रिकार्ड करवाया था, मगर उनकी मंजिल गायिकी नहीं, समूचा संगीत थी। गाना उन्होंने बेशक जारी रखा, वे सराहे भी गए मगर उन्हें असली ख्याति मिली एक संगीतकार के रूप में ही। *मशाल* उनके करियर के लिए मील का पत्थर साबित हुई और फिर नवकेतन के बैनर के साथ ताउम्र का साथ उनके लिए उनके फिल्मी सफर को सुहाना बनाता चला गया। शास्त्रीय संगीत पर उनकी पकड़ तो बहुत मजबूत थी मगर उसका विशिष्ट पहलू यह था कि उन्होंने शास्त्रीय आधारित रचनाओं को भी मेलोडी और माधुर्य की संरचना के अन्दर ही रखकर प्रस्तुत किया। उनका जोर रहता था कि भले ही धुन शास्त्रीय रागों पर आधारित हो मगर वह ऐसी बननी चाहिए कि राह चलता आदमी भी उसे आसानी से गुनगुना सके। *मेरी सूरत तेरी आँखें, कैसे कहूँ* और *गाइड* के संगीत में इसे देखा जा सकता है। **मेरी सूरत तेरी आँखें** का गीत *पूछो न कैसे मैंने रैन बिताई* तो सर्वकालिक हिट गीत है। बर्मन दा के नाम सुपरहित संगीत की ढेर सारी फिल्में हैं। बर्मन दा की छाप वाले इस दौर में खय्याम, रोशन, सरदार मलिक का संगीत भी गूँज रहा था। लगभग इसी समय शंकर-जयकिशन की जोड़ी के संगीत का डंका बजना भी शुरू हो गया। अपने प्रिय राग भैरवी के आधार पर इन्होंने इस कालखंड की कुछ सबसे महशूर धुनें जैसे–*मेरा जूता है जापानी, रमैया वस्तावैया, आवारा हूँ* और *सब कुछ सीखा हमने न सीखी होशियारी*। छठे दशक के वे सबसे सफल संगीतकार रहे और उनकी लगभग हर फिल्म संगीत के लिहाज से हिट साबित हुई। इस जोड़ी के संगीत से सजी फिल्मों की फेहरिस्त बहुत लम्बी है, लेकिन *श्री 420, चोरी चोरी, बूट पॉलिश, वसंत बहार, यहूदी, संगम, मेरा नाम जोकर* के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी दौर का एक और चर्चित नाम है मदनमोहन का, जिन्हें गजल सम्राट का रुतबा हासिल हुआ, क्योंकि गजलों की कम्पोजीशन के मामले में उनका कोई सानी नहीं था। लेखक के मुताबिक नौशाद उनकी दो रचनाओं *हैं इसी में प्यार की आबरू* और *आपकी नजरों ने समझा प्यार के काबिल मुझे* के बदले अपनी सारी कृतियाँ देने को तैयार थे। हालाँकि मदनमोहन की शुरूआत उस समय के प्रचलित संगीत के साथ ही हुई थी मगर धीरे-धीरे उन्होंने अपनी मंजिल चुन ली और उसी ओर चल पड़े। गजल के जिस परिचित रूप के लिए हम मदनमोहन को याद करते हैं वह पहली बार **खूबसूरत** के *मुहब्बत में कशिश होगी तो एक दिन तुमको पा लेंगे* में दिखा। राजेन्द्र कृष्ण के साथ उनकी जोड़ी अच्छी जमी और लता मंगेशकर के साथ मिलकर तो उन्होंने गजब ढा दिया। इस दौरान तो मदनमोहन के संगीत की कल्पना लता के संगीत के बिना की ही नहीं जा सकती थी। लता के मुताबिक मदनमोहन ने गजलों को प्रचलित शैलियों से निकालकर एक नया रूप दे दिया।

वास्तव में यह दौर एक से एक संगीतकारों से सजा हुआ दौर था। एक ओर यदि अनिल विश्वास, नौशाद, एस.डी.बर्मन और मदनमोहन आदि थे तो इसी समय हेमंत कुमार, ओ.पी. नैयर, सलिल चौधरी भी थे। सलिल चौधरी तो हिन्दी फिल्मों के अकेले बुद्धिजीवी संगीतकार कहे जा सकते हैं। वे एक ऐसे संगीतकार थे जो न केवल साम्यवादी थे बल्कि उन्होंने संगीत को साम्यवाद का सन्देश देने का एक माध्यम भी बनाया। वे एक विलक्षण कम्पोजर ही नहीं थे बल्कि कवि, गीतकार और संगीत समीक्षक भी थे। उनकी रचनाओं में संगीत अपनी सम्पूर्णता में धड़कता था। वे कभी ''पाश्चात्य सिम्फनी के तत्त्वों, तो कभी भारतीय रिद्म, तो कभी दोनों के सम्मिश्रण से एक तरंग पैदा करते थे, जो उनकी लाक्षणिक विशेषता होती थी।''

सातवें दशक तक आते-आते भारतीय फिल्म संगीत एक नया मोड़ लेता है। अपवादों को छोड़ दें तो उसका चिन्तन पक्ष कमजोर होता जाता है और राजनीतिक तथा सामाजिक प्रतिबद्धताएँ भी शिथिल पड़ने लगती हैं। पश्चिम की विद्रोही प्रवृत्तियों से उत्पन्न शैलियों का असर दिखाई पड़ने लगा था मगर कुल मिलाकर पिछली संगीत शैलियों का परिष्कार ही इसकी पहचान बना। जयदेव, रवीन्द्र जैन या कल्याणजी आनन्दजी और लक्ष्मीकान्त प्यारेलाल की जोड़ियों ने मिलकर अत्यधिक लोकप्रिय धुनों का निर्माण किया। इसी दशक के अन्त में आर.डी.बर्मन का आगमन एक और ताजा हवा का झोंका लाता है। आठवें दशक में प्रवेश करते-करते संगीत परिदृश्य पर नए जैज की तुलना में रॉक रिद्मों का प्रभाव कहीं व्यापक हो गया। इलेक्ट्रॉनिक वाद्य यन्त्रों का इस्तेमाल भी बढ़ गया। आर. डी.बर्मन इस आधुनिक संगीत लहर के प्रतिनिधि संगीतकार बने और उनके संगीत में ध्वनि और भावना के नए उपमानों ने बदलती मानसिकता वाले युवावर्ग को सम्मोहित करके रख दिया। हालाँकि इसी दौर में रवीन्द्र जैन का संगीत थोड़ा हटकर रहा और उसे सत्तर के दशक की परम्परा का माना जा सकता है। इसी कालखंड में राजेश रोशन भी एक प्रमुख संगीतकार के तौर पर उभरे।

नब्बे के दशक के आते-आते तक फिल्म संगीत पर बाजार हावी होने लगा था। साथ ही इस पर डिस्को और रॉक की आँधी ने भी असर डालना शुरू कर दिया। बप्पी लाहिड़ी इसका नेतृत्व कर रहे थे। हालाँकि शुरूआत में उन्होंने भी कर्णप्रिय और मेलोडीप्रधान गीत दिए थे, मगर बाद में उनके संगीत की पहचान

शोरगुल ही बन गई। लेकिन शोर-शराबे वाले इस संगीत का सिलसिला ज्यादा लम्बा नहीं चला और सदी के आखिर में मेलोडी की वापसी हुई मगर बदलते वक्त के नए प्रतिमानों के साथ। यह दौर खुले बाजारवाद और भूमंडलीकरण का था और संगीत का निर्माण भी उनकी जरूरतों के हिसाब से होने लगा। टेलीविजन के विस्तार की वजह से गानों की श्रवणीयता के बजाय दर्शनीयता प्रमुख होती चली गई। संगीत अब उपभोक्ता सामग्री बन चुका था। मगर तेज परिवर्तन के इस दौर में नदीम-श्रवण, आनन्द-मिलिंद, जतिन-ललित, विशाल भारद्वाज और इस्माइल दरबार जैसे संगीतकारों ने बहुत अच्छी धुनें बनाईं। मगर इस दौर में अगर कोई बड़ी हलचल और परिघटना थी तो वह ए.आर.रहमान और उनका संगीत था। रहमान के संगीत ने फिल्म संगीत में एक नई शैली का सूत्रपात किया। इसकी शुरूआत फिल्म रोजा से हुई और जो बाम्बे होते हुए रंगीला आदि में विस्तार पाती चली गई। संगीत के लिहाज से *दिल से* उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जा सकती है। समकालीन रचनाकारों में रहमान का नाम सबसे ऊपर है। दोहराव के बावजूद उनके पास बहुत सारी नई चीजें हैं। वे लगातार प्रयोग कर रहे हैं और नई-नई धुनें दे रहे हैं।

भारतीय फिल्म संगीत को अस्सी वर्ष हो चके हैं और जाहिर है कि यह बहुत लम्बी यात्रा रही है। यह लम्बी यात्रा सृजनात्मक घटनाओं से परिपूर्ण रही है। **धुनों की यात्रा** इतका रूखा-सूखा ब्यौरा ही नहीं देती, बल्कि ऐसे प्रसंगों को भी समेटती चलती है जो उस रचनाकाल और रचनाकारों की मानसिक बनावट तथा उनकी सर्जनात्मकता को बयान भी करते हैं। यह भारतीय फिल्म संगीत और संगीतकारों के योगदान को श्रद्धांजलि है। पंकज राग के इस महत्त्वपूर्ण काम को देखने के बाद अफसोस केवल इस बात पर होता है कि किताब का प्रोडक्शन भी अगर ढंग का होता तो क्या बात थी। एक बात और...। काश इसी तरह का काम शायरों और गीतकारों पर भी होता।

धुनों की यात्रा/ पंकज राग/ राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली-110002/ मूल्य : 1000 रुपये

सी-1302, एपेक्स ग्रीन वैली, सेक्टर-9, वैशाली, गाजियाबाद (उ.प्र.)/ मो. 9811818858

अ ा ग म न

देह के बाजार होने की गाथा

आगमन

अनंत विजय

स्त्री विमर्श की आंधी के बीच लता शर्मा ने अपने लेखन से एक अलग पहचान बनाई है। लता शर्मा का हिन्दी दैनिक के लिए लिखा जानेवाला स्तम्भ खासा चर्चित रहा है और अपने लेखन की धार की वजह से पाठकों का ध्यान आकर्षित करता रहा है। लता शर्मा ने कहानियाँ भी लिखी हैं और अब सामयिक प्रकाशन, दिल्ली से उनका नया उपन्यास—सही नाप के जूते—प्रकाश्य है। यह पूरा का पूरा उपन्यास एक लड़की उर्वशी और उसकी माँ की महत्वाकांक्षाओं के इर्द-गिर्द घूमता है। एक छोटे-से कस्बे की लड़की और उसकी माँ की महत्वाकांक्षा जब हिलोरें लेने लगती है तो इस तरह की कहानी तैयार होती है। उर्वशी की माँ ने अपनी बेटी और अपने लिए जो सपने देखे थे उन सपनों को पूरा करने में वो उर्वशी के छुटपन से ही जुटी थी। वह अपनी बेटी की देह को अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करती है और योजनाबद्ध तरीके से उस पर अमल भी करती है। जब उर्वशी छोटी थी उस वक्त से ही उसकी माँ उसके शरीर पर गर्म राख मला करती ताकि उसके शरीर पर रोएं ना निकल सकें और त्वचा की चिकनाहट बनी रह सके, साथ ही बना रहे देह का सौंदर्य। उर्मि अपनी देह के प्रति बचपन से ही तटस्थ रही है। जब से उसने होश संभाला, माँ के आदेश पर निर्वस्त्र होने की उसे आदत-सी हो गई है। कहानी आगे बढ़ती है और साथ ही बढ़ती जाती है एक माँ की महत्वाकांक्षा भी। माँ अपनी बेटी के शरीर को तो तराशती ही है साथ ही उसके दिमाग को भी अपनी योजना के हिसाब से तैयार करती जाती है। वह अपनी बेटी को देह के अर्थशास्त्र के बारे में बताकर आने वाले समय के लिए उसको तैयार करती है। माँ अपनी बेटी से कहती है—भारत ही नहीं, पूरे विश्व में समाज की सोच सामंतवादी है। स्त्री उसकी सम्पत्ति है, पूंजी है। वह स्त्री के श्रम, सौन्दर्य और बुद्धि सब पर स्वामित्व जमा लेता है। उसका उपभोग करता है। उसका निवेश कर स्त्री को दस या बीस प्रतिशत का लाभांश दे दे तो बहुत समझो। तुम्हारी देह तुम्हारा मस्तिष्क, तुम्हारी अपनी पूंजी है। अंततः उसका निवेश होना ही है, तो तुम स्वयं करो, कम से कम अस्सी प्रतिशत लाभांश तो मिलेगा। माँ की नजरों में पुरुष व्यापारी है और उसने यह दुनिया अपने सुख और संतोष के लिए रची है। जीवन को शुद्ध व्यापार समझनेवाली महिला अपनी बेटी को देह के अर्थशास्त्र की यह घुट्टी पिलाते हुए उसके दिमाग में यह बात कूट-कूट कर भर देती है कि देह के कम से कम निवेश से अधिकतम लाभ अर्जित करना ही जीवन का ध्येय होना चाहिए।

माँ की मेहनत और उर्वशी की किस्मत रंग लाती है और वह मिस इंडिया

चुन ली जाती है और फिर शुरू होता है ग्लैमर की दुनिया का वह रास्ता जहाँ से आगे तो जा सकते हैं लेकिन पीछे लौटना लगभग नामुमकिन-सा है। दोनों के जीवन में एक साथ तीन घटनाएँ घटती हैं–माँ ने मुंबई की कफ परेड की शानदार इमारत सागर रत्ना में पाँच करोड़ का फ्लैट खरीदा, पापा सरकारी क्वार्टर में छूट गए और उर्वशी का कौमार्य भंग हुआ। जब पहली बार उर्वशी का कौमार्य भंग होता है तो उसकी माँ इस घटना को व्यवसायगत जोखिम या ऑक्यूपेशनल हजार्ड कहकर बेटी को सांत्वना देती है। लेकिन डॉक्टर के यहाँ जाकर बेटी के गर्भाश्य में इंट्रा यूरिटरी डिवाइस–गर्भ ठहरने के झंझट से मुक्ति–लगवाकर निश्चिंत हो जाती है। इसके बाद कहानी बेहद तेज रफ्तार से आगे चलती है और उर्वशी पहले मिस वर्ल्ड और फिर फिल्मों की नायिका के रूप में सफलता के झंडे गाड़ती जाती है। लेकिन फिर शुरू होता है ग्लैमर की दुनिया का स्याह रास्ता। और उर्वशी रू-ब-रू होती है उस बेरूखी दुनिया से जो स्त्री देह को भोगने के बाद डंप कर देता। कहानी एक नया मोड़ लेती है और अपने जिस छोटे भाई चीनू को वह जान से भी ज्यादा प्यार करती थी एक दिन वही अपने लाभ के लिए अपनी बहन के जिस्म का सौदा कर डालता है। कहानी जब क्लाइमेक्स की ओर बढ़ती है तो न तो कहीं चौंकाती है और ना ही कोई झटका देती है, बेहद सामान्य ढंग से खत्म होती है। एक पाठक के तौर पर हमें यह आभास होता चलता है कि आगे क्या-क्या घटित होने वाला है।

लता शर्मा ने जिस विषय को अपने इस उपन्यास का विषय बनाया है उस पर हिन्दी में सैकड़ों कहानियाँ और कई उपन्यास पहले लिखे जा चुके हैं। कमोबेश सुरेंद्र वर्मा के चर्चित उपन्यास–मुझे चांद चाहिए–की कहानी भी यही थी। फर्क इतना है कि सुरेंद्र वर्मा के उपन्यास में नायिका की स्वयं की महत्वाकांक्षा उसको आगे बढ़ाती है, जबकि लता शर्मा के यहाँ माँ की महत्वाकांक्षा। इस उपन्यास की कई घटनाएँ और स्थितियाँ, कुछ दिनों पहले आई मधुर भंडारकर की फिल्म 'फैशन' की घटनाओं और स्थितियों से भी मेल खाती हैं। इसका मतलब यह कतई नहीं निकाला जाना चाहिए कि इस उपन्यास पर इस फिल्म का प्रभाव है क्योंकि ऐसी कहानियों में स्थितियाँ और घटनाएँ एक जैसी ही होती हैं। कहीं मजबूरी में आप ग्लैमर की स्याह दुनिया में उतरते हैं, जैसा कि यशराज की फिल्म–लागा चुनरी में दाग–की नायिका करती है तो कहीं महत्वाकांक्षा यह रास्ता चुनने को मजबूर करती है। लेकिन हर स्थिति में अंत कमोबेश एक जैसा ही होता है, अलग होता है पेश करने का अंदाज। लता शर्मा ने इस उपन्यास को स्त्री विमर्श की चासनी में लपेटकर पेश करने की कोशिश की है शायद पाठकों को पसंद भी आए लेकिन हिन्दी साहित्य में यह उपन्यास कोई छाप छोड़ पाएगा यह कहना मुश्किल है।

लता शर्मा की यह किताब स्त्री-विमर्श के नाम पर छपी एक साधारण किताब है जिस पर ध्यान देने की जरुरत नहीं है।

●

पिछले कुछ महीनों से ऑस्ट्रेलिया में भारतीय छात्रों पर हो रहे हमलों और भारतीय मीडिया में हो रही कवरेज से एक बार फिर से नस्लभेद पर एक बहस छिड़ गई है। कुछ विद्वान दलित विचारकों ने नस्लभेद को जातिवाद से जोड़कर पूरी बहस को एक नई दिशा में मोड़ने की कोशिश की है। उनका तर्क है कि भारत में भी लंबे समय से ऊंची जाति के लोग निचली जातियों पर हमले करते रहे हैं। इन दलीलों के बाद एक सवाल शिद्दत के साथ खड़ा हो गया है कि क्या जातिवाद और नस्लवाद एक ऐसी अवधारणा है जो जैविक, आनुवांशिकता और शारीरिक बनावट के आधार पर तय होता है जबकि जातिवाद तो सिर्फ एक सामाजिक अवधारणा है, इसका कोई आधार नहीं है। पोट्रैट ऑफ व्हाइट रैसिज्म में डेविड विलमैन ने भी लिखा है कि नस्लभेद एक सांस्कृतिक मान्यता है जो जातीय अल्पसंख्यकों की सामाजिक स्थित की वजह से गोरे लोगों को समाज में उच्च स्थान प्रदान करती है।

लेकिन संजीव खुदशाह की आगामी दिनों में प्रकाशित होनेवाली किताब–आधुनिक भारत में पिछड़ा वर्ग–पूर्वग्रह, मिथक और वास्तविकताएँ–में आंद्रे बेते की उपरोक्त अवधारणा को निगेट किया गया है। संजीव की ये किताब शिल्पायन, दिल्ली से प्रकाशित हो रही है। लेखक का दावा है कि इसमें जाति उत्पत्ति के संबंध में कुछ धर्मग्रंथों के संदर्भ लिए गए हैं, उनके श्लोकों का विवरण दिया गया है...प्रत्येक जाति दूसरी जाति से ऊंची अथवा नीची है। समानता के लिए यहां कोई स्थान नहीं है...मेरा अध्ययन परिणाम यह बतलाता है कि नस्लवादी, वंशवादी और टोटम परंपरा पर ही वर्तमान जाति-प्रथा आधारित है। लेखक के इन दावों पर अगर हम गंभीरता से विचार करें और इस विषय पर पूर्व प्रकाशित लेखों और पुस्तकों का संदर्भ लें और उसे संजीव के शोध परिणाम के बरक्स रखें तो संजीव के तर्क और स्थापनाएं थोड़ी कमजोर प्रतीत होती हैं। ये तो माना जा सकता है कि भारतीय समाज मूलतः जाति व्यवस्था पर आधारित है लेकिन यहां हमें जाति व्यवस्था और नस्लभेद का फर्क देखना पड़ेगा। जिस तरह आंद्रे बेते और अन्य समाज शास्त्रियों ने इन दोनों अवधारणाओं को परिभाषित किया है वो ज्यादा तार्किक और वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में विवादित जातियों और रक्त के सम्मिश्रण पर विस्तार से लिखा गया है। विवादित जातियों में लेखक ने कायस्थ, मराठा, भूमिहार और सूद को शामिल किया है और उनकी उत्पत्ति के बारे में लेखों और पुराने धर्मग्रंथों के आधार पर निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयत्न किया है। लेकिन यहां भी तर्क बेहद लचर और कमजोर हैं। इस पूरे शोध प्रबंध में लेखक ने श्रमपूर्वक सामग्री तो जुटाई है लेकिन उसे विश्लेषित कर एक तार्किक और वैज्ञानिक निष्कर्ष तक पहुंचाने में नाकाम रहे हैं। लेखक को जाति व्यवस्था पर लिखने के पहले एक नजर प्रसिद्ध इतिहासकार रामशरण शर्मा की पुस्तक–शूद्रों का इतिहास जरूर देखना या पढ़ना चाहिए था।

सही नाप के जूते/ लता शर्मा/ सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली/ संभावित प्रकाशन माह : सितंबर, 2009

अधुनिक भारत में पिछड़ा वर्ग/ संजीव खुदशाह/ शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32/ संभावित प्रकाशन माह : सितंबर, 2009

321-बी, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद (उ.प्र.)-201014 मो. 9871697248

प्रतिध्वनि

पत्र-प्रतिक्रिया

पुस्तक-वार्ता (जनवरी-फरवरी 2009) में दो बातों ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। पहला कुलपति की कलम से—'पिछले तीन दशक में हिन्दी समाज अपनी उदार परम्पराओं से भटका है और उसमें कट्टरता, अवैज्ञानिकता और असहिष्णुता की प्रवृत्तियाँ बढ़ी हैं। दूसरा संपादकीय दृष्टि—'पत्रिका के मूल चरित्र और संकल्प की रक्षा।' साथ ही इसे समकालीन वैचारिक विमर्श का उन्मुक्त मंच बनाने की आकांक्षा। दरअसल यह दोनों ही, एक ही विमर्श का हिस्सा है।

मुशर्रफ आलम जौकी, दिल्ली

□

पुस्तक-वार्ता का नया अंक मिला। इस बार अच्छा लगा। आप संपादक के रूप में भी समीक्षक ही दिखते हैं। पता नहीं यह अच्छा है या नहीं।

प्रमिला वर्मा, अहमदाबाद

□

आपका कार्ड मिला। आपके काम सदा ही वशीभूत करने वाले हैं। मेरी सुस्ती के कारण आप सन्देह न करें। पुस्तक-वार्ता के सभी अंक सुन्दर और प्रभावी हैं। पठनीय तो हैं ही।

ज्ञानरंजन, जबलपुर

□

पुस्तक-वार्ता अंक 20 सम्पूर्ण रूप से पढ़ गया। नए कलेवर में अच्छा लगा। परिवर्तित स्वरूप और स्तम्भों में सजा-सँवरा पठनीय सामग्रियों से सम्वर्धित आपका संपादन सुव्यवस्थित रचनात्मकता का परिचय देता है। नए स्तम्भों की शुरूआत के साथ मैं और पुस्तकें के अन्तर्गत नंदकिशोर नवलजी की लेखनी पटना की याद दिला गई। विस्थापन की याद पश्यंति हो गई। मैं और पुस्तकें के स्थान पर पुस्तक और मैं स्तम्भ/शीर्षक ज्यादा सम्प्रेषणीय है। इस पर पुनर्विचार करें।

धूपनाथ प्रसाद, वर्धा

□

पुस्तक-वार्ता 'जनवरी-फरवरी 2009 देखने और पढ़ने को मिली है जिसका गेट-अप सादगी में सुन्दरता समाहित किए हुए हैं। इतनी अच्छी पाठ्य सामग्रियों के साथ-साथ अच्छे कागज पर सुन्दर छपाई के होते हुए इस महँगाई के जमाने में मात्र दस रुपये में एक श्रेष्ठ हिन्दी-पत्रिका का उपलब्ध होना अपने आप में एक अचरज की बात है। इसके लिए विश्वविद्यालय और संपादक को साधुवाद। महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के कुलपति का यह सपना अत्यन्त श्लाघनीय है कि ''यह एक ऐसी संस्था के रूप में विकसित हो जहाँ कट्टरता के लिए कोई जगह नहीं रहे और जो अपने से जुड़े लोगों में लोकतन्त्र, धर्मनिरपेक्षता और वैज्ञानिक चेतना के प्रति सम्मान पैदा कर सके।'' वस्तुतः वैचारिक उन्मुक्तता और निरपेक्षता किसी भी पत्रिका की प्राणवायु है। यतीन्द्र मिश्र ने कुँवर नारायण जी के सम्पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व का निष्पक्ष एवं सूक्ष्म विश्लेषण किया है। वह गागर में सागर की तरह विचारोत्तेजक है। इसी कड़ी में कुँवर नारायण के 'वाजश्रवा के बहाने' पर गोपेश्वर सिंह की समीक्षा अच्छी लगी है।

महादेव प्रसाद शर्मा, हाजीपुर

□

पत्रिका के साफ-सुथरेपन ने आकर्षित किया। हृदयेश का आलेख मैं और पुस्तकें अत्यन्त हार्दिकता से लिखा गया है। विष्णु प्रभाकर के बारे में कुबेर दत्त का संस्मरण आत्मीय है। चेखव पर गोपाल प्रधान अपने साहसिक अनुभवों के साथ सामने आए हैं। आलोचना साहित्य का विवेक है—शीर्षक आपका संपादकीय वैचारिक आलेख की छवि से मंडित है। साहित्यिक हलचल इस कदर जीवन्त लगती है कि पढ़ने वाला भी उस समारोह का अंग बन जाए। कहना न होगा कि पुस्तक वार्ता हर पुस्तक प्रेमी के लिए अनिवार्य-सी बन गई है—इसके पाठक निरन्तर बढ़ेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

ओम निश्चल, पटना

□

'पुस्तक-वार्ता का जनवरी-फरवरी 2009 का अंक लगभग पूरा पढ़ गया हूँ। मिस्सी शरण की पुस्तक पर आधारित लेख 'एक पुनर्यात्रा, ह्वेन-संग की राह पर', नंदकिशोर नवल के पुस्तक के साथ आलोचक के रिश्ते पर केन्द्रित लेख और 'समय जुलाहा' के अन्तर्गत कुबेर दत्त की टिप्पणियाँ (विशेषतः हरदत्त पर) इस अंक की उपलब्धियाँ हैं। एक अंक में तीन रचनाएँ यदि उपलब्धि हों तो यह बड़ी बात है, खासतौर पर तब जब कि नए संपादक द्वारा संपादित यह पहला ही अंक हो।

प्रदीप पंत, नई दिल्ली

□

मुझे आपका संपादकीय अच्छा लगा और फोन

पर आपके विचार जानकर भी प्रसन्नता हुई। आपके कुलपति ने भी लिखा है कि गुटवाद तथा व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त होकर रचनाशीलता को प्रश्रय दिया जाएगा। मेरे जैसे अनेक लेखकों को इससे प्रसन्नता होगी, यदि आप तथा कुलपति अपने संकल्प के क्रियान्वयन में सफल होंगे।

कमल किशोर गोयनका, दिल्ली

□

आपके संपादन में 'पुस्तक-वार्ता' का बहुत सर्जनात्मक अंक देखा! दुर्लभ सामग्री है।

विवेक सत्यांशु, इलाहाबाद

□

'पुस्तक वार्ता' का दूसरा अंक भी पढ़ लिया है और मैं अभिभूत हूँ कि अब यह गति पकड़ रहा है। हृदयेश को कौन याद करता है? अब तक यहाँ जयशंकर और जाने कौन-कौन पुस्तकों पर बतियाते थे। आपने नवलजी से सिलसिला शुरू कर सही दिशा में कारवां बढ़ा दिया। उम्मीद है जल्दी अमरकांत, शेखर जोशी, नौटियालजी, मन्नूजी, काशीनाथजी भी इस स्तम्भ में होंगे।

हिन्दी में जिस गति से पुस्तकें आ रही हैं 'पुस्तक वार्ता' पाक्षिक होना चाहिए न सही तो मासिक बने ही। आप भी मानते होंगे।

पल्लव, उदयपुर

□

'पुस्तक वार्ता' का अंक 21 मिला, अच्छा लगा। आपके संपादन में पत्रिका अच्छी निकल रही है और अच्छी बात यह भी है कि यह लोगों तक पहुँच भी रही है। हमारी बधाई लें।

श्री प्रकाश शुक्ल, वाराणसी

□

'पुस्तक वार्ता' तथा आपका कृपा पत्र दोनों मिले। आपका आभार। 'पुस्तक-वार्ता' मिलते ही मैंने आपको फोन भी किया था। आलोचना-समीक्षा की महत्त्वपूर्ण पत्रिका से मेरा परिचय हुआ। विरासत और स्मरण, देशान्तर, समय-जुलाहा और नेपथ्य में बहुत कुछ सहेजने-सोचने लायक है। आपका संपादकीय भी खूब है। विवेकपूर्ण और गम्भीर पत्रिका के लिए पुनः आभार।

सनत कुमार, इन्दौर

□

'पुस्तक-वार्ता' का दूसरा अंक भी आ गया है। पत्रिका अच्छी जा रही है। सूझ-बूझ के साथ। मेरी बधाई लें। आपकी इच्छा और पसन्द की बात है। मेरा मन 'पुस्तकें और मैं' या 'नेपथ्य' जैसे स्तम्भों को लिखने का था। पुस्तक-समीक्षा लिखने में कोई शर्म नहीं आती। 45 वर्षों से अधिक से मिशनरी उत्साह से इसे किया ही है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के लिए राधेश्याम कथावाचक पर जो पुस्तक लिखी है उसके प्रसंग में 'नेपथ्य में' की विशेष सार्थकता है क्योंकि वह मेरे क्षेत्र से बाहर का काम है जिसका अपना इतिहास है। क्या पुस्तक छप जाने पर ही उसे लिखा जाना ठीक होगा या पहले भी लिखा जा सकता है?

मधुरेश, बरेली

आपकी संपादन-कला सर्वतोभावेन प्रशंसनीय है पर हमारी शुभकामना है कि इससे आपका लेखन प्रभावित न हो।

रेवती रमण, मुजफ्फरपुर

□

आप द्वारा संपादित 'पुस्तक-वार्ता' के नए अंक को मैंने अगले दिन ही पूरा पढ़ लिया। उसके बाद मैंने उसी दिन शाम को आपको फोन भी किया, सम्पर्क स्थापित न हो सका। अतः यह पत्र प्रेषित कर रहा हूँ।

विशेष बात यह कि आपने पत्रिका को गम्भीर, विविधतापूर्ण तो बनाया ही है, उसे पठनीय भी बनाया है। इसी तरह उसमें आपने साहित्य की विविध विधाओं को समेटा है और उनके बारे में या उनके लेखकों के बारे में सारगर्भित टिप्पणियाँ या लेख शामिल किए हैं। इस श्रमसाध्य कार्य के लिए आपको बहुत-बहुत बधाई एवं शुभकामनाएँ भी।

वीरेन्द्र सक्सेना, नई दिल्ली

□

पुस्तक-वार्ता का नया अंक भी मिल गया है। नयनाभिराम है। मैं कभी 'समीक्षा' के लिए उस पर लिखूँगा।

–गोपालराय, सं. 'समीक्षा'

□

पुस्तकें और मैं पर मैं लिखूँगा। मई-जून अंक तो सुन्दर है।

विजय बहादुर सिंह, सं 'वागर्थ' कोलकाता

□

पुस्तक-वार्ता का मई-जून, 2009 का अंक मिला। आभारी हूँ। आपके संपादन में पत्रिका बहुत अच्छी निकल रही है। वैविध्यपूर्ण सामग्री के साथ, रोचक और पठनीय। आपकी संपादकीय सूझ-बूझ प्रभावित करती है। बधाई और शुभकामनाएँ।

–रमेश उपाध्याय, नई दिल्ली

□

'जिन्दगीनामा'-विवाद-प्रसंग

1

कृष्णा सोबती
505-बी, पूर्वाशा,
आनन्दलोक, मयूर विहार, फेज-1
दिल्ली-110091

3, जून, 2009

प्रिय सम्पादक,

'पुस्तक वार्ता' अंक जनवरी-फरवरी के पृष्ठ 45 पर श्री कुबेर दत्त द्वारा प्रस्तुत आलेख 'समय जुलाहा' में 'जिन्दगीनामा' उपन्यास के जिस मुकद्दमे को खारिज होने का जिक्र है–उसके सन्दर्भ में मेरे लिए यह जानना जरूरी है कि इस जानकारी का कानूनी स्रोत क्या है! हिन्दी विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित और आप द्वारा संपादित पत्रिका से इसकी सूचना मिली है, सो मुझे यह जानना जरूरी लगा है। कृपया इसकी सूचना मुझ तक पहुँचाने का कष्ट करें–कृतज्ञ होऊँगी।

विनीत
कृष्णा सोबती

2

भारत भारद्वाज
सम्पादक 'पुस्तक-वार्ता'
मो. 9313034049
11/ए-I, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंटस
मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091

8-6-2009

आदरणीया कृष्णा जी,

आज कूरियर से प्रेषित 3 जून 2009 का लिखा आपका पत्र मिला, जिसमें आपने मेरे द्वारा संपादित 'पुस्तक-वार्ता' के जनवरी-फरवरी 2009 अंक में कुबेर दत्त द्वारा लिखे स्तम्भ 'समय जुलाहा' के बारे में अपनी आपत्ति दर्ज की है। मुझे यह देखकर दुख हुआ कि अमृता प्रीतम के निधन के बाद भी आप इस मुकद्दमे को लेकर संवेदनशील है। वैसे, कुबेरदत्त को मैंने आपका पत्र भेज दिया है। अब वे ही आपको बताएँगे कि उनकी जानकारी का कानूनी स्रोत क्या है। आप निश्चिंत रहिए, हम इस विवाद की तह तक पहुँचेंगे।

सादर आपका
भारत भारद्वाज

3

13.6.09

प्रिय कुबेर जी,

मेरे द्वारा संपादित 'पुस्तक-वार्ता' के जनवरी-फरवरी 2009 के अंक में आपके स्तम्भ 'समय जुलाहा' के अन्तर्गत 'हरदत्त का जिन्दगीनामा' पर टिप्पणी की गई थी। इस टिप्पणी से क्षुब्ध होकर हिन्दी की प्रतिष्ठित लेखिका कृष्णा सोबती ने संपादक के नाम लिखे 3 जून 2009 के पत्र में प्रतिवाद करते हुए जानना चाहा है कि आपकी जानकारी का कानूनी स्रोत क्या है। उनके पत्र की प्रतिलिपि मैं आपको भिजवा चुका हूँ। बल्कि उनके द्वारा अमृता प्रीतम के निधन के बाद उठाया गया प्रसंग मुझे भी अच्छा नहीं लगा था। जिस दिन (8-6-09) कूरियर से उनका पत्र मिला था अपनी ओर से इस दुखद प्रसंग की स्थिति स्पष्ट करते मैंने उन्हें कार्ड भेजा था। (उसकी फोटोप्रति संलग्न है)।

आप कृपया उनके द्वारा दर्ज की गई आपत्ति–कानूनी स्रोत–का जवाब दें ताकि पत्रिका के जुलाई-अगस्त, 2009 में इसका स्पष्टीकरण दिया जा सके। मुझे पूरा विश्वास है, इस वरिष्ठ लेखिका का सम्मान करते हुए आप इस लंबित मुकद्दमे की अद्यतन कानूनी स्थिति स्पष्ट करेंगे।

शुभकामनाओं सहित,
आपका
भारत भारद्वाज

4

कुबेर दत्त
159, आकाश दर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार
फेज-I, दिल्ली-110091

13-7-09

प्रिय श्री भारत भारद्वाज,

आपका 13-6-09 का पत्र और आपके द्वारा आदरणीया कृष्णा सोबती को भेजे गए पत्र की छाया प्रति भी मिली।

'पुस्तक वार्ता' (जन.-फर. 09 अंक) के 'समय जुलाहा' स्तम्भ के अन्तर्गत मैंने स्व. मदन मोहन हरदत्त (प्रसिद्ध क्रान्तिकारी, विद्वान) के जीवन के कुछ प्रसंगों पर लिखा था और उस पुस्तक (हरदत्त का जिन्दगीनामा) के बारे में भी लिखा था–जिसकी लेखिका स्व. अमृता प्रीतम थीं और उस मुकदमे का भी जिक्र किया था जो आ. कृष्णा सोबती और आ. अमृता जी के बीच चला।

मैं कोई कानूनविद् नहीं हूँ और यकीनन कानूनी बारीकियाँ भी नहीं जानता। मैं मूलतः एक लेखक हूँ और इसी नाते मेरी स्मृति में महज यह था कि मुकदमे पर 1984 में दिल्ली हाईकोर्ट ने कोई स्टे नहीं दिया था और 'हरदत्त का जिन्दगीनामा' के प्रकाशन पर कृष्णा जी की रोक की अपील खारिज कर दी थी। प्रकाशन पर रोक आज भी नहीं है। उस वक्त उस फैसले के समाचार अखबारों में आए थे। उस फैसले की एक छाया प्रति संलग्न है जो एक कानूनी दस्तावेज और स्रोत भी है। बस मैंने इसी आधार पर अपनी टिप्पणी की थी।

अगर मुकद्दमा अभी भी चल रहा है तो मुझे उसकी जानकारी नहीं है। यद्यपि इस बीच अमृता प्रीतम का निधन भी हो चुका है। कानूनी तौर पर यदि कोई 'तकनीकी' भूल मुझसे हुई है तो वह इरादतन तो हो ही नहीं सकती। कृष्णा जी, आप भारतीय साहित्य की गौरव हैं, हम सबकी सम्मान्य हैं। व्यक्तिगत राय किसी की कुछ भी हो, लेकिन तथ्य अपनी सत्ता रखते हैं।

मेरी जानकारी में कुछ तथ्य आए हैं, जिन्हें सन्दर्भित कर देना जरूरी मानता हूँ।

फारसी के एक विद्वान थे नन्दलाल गोया (1633-1715) उनकी प्रार्थना-पुस्तक थी–'बंदगीनामा'। बाद में गुरु गोबिन्द सिंह ने किताब का नाम बदलकर कर दिया था–'जिन्दगीनामा'।

पाकिस्तान के भूतपूर्व विधिमन्त्री सैय्यद अफजल हैदर, जो फेडरल शरीयत कोर्ट के जज भी रहे थे, वे एक लेखक हैं। उन्होंने 20 से ज्यादा पुस्तकें लिखीं और 200 लेख भी। उनकी एक पुस्तक का नाम है–'जिन्दगीनामा : बाबा फरीद।'

इन दिनों एक ब्लॉग भी चल रहा है–Zindaginama. Blogspot.com

प्रकाश मनु की भी इधर एक पुस्तक आई है–'जिन्दगीनामा : एक जीनियस का'।

अरावली बुक्स इंटरनेशन ने भी एक पुस्तक छापी थी–'एक पोंगे का जिन्दगीनामा'। यह दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी के कैटलॉग में दर्ज है। इसके लेखक हैं–योगेशचन्द्र भटनागर। प्रकाशन-वर्ष 2006।

स्व. देवेन्द्र सत्यार्थी का एक प्रिय शब्द 'जिन्दगीनामा' भी था जो उनकी कई रचनाओं में आया है।

और क्या कहूँ?

आपका
कुबेर दत्त

5

27 (1985) DELHI LAW TIMES 279

DELHI HIGH COURT

Present : H.C. Goel, J.

KRISHNA SOBTI—Plaintiff/Petitioner

Versus

AMRITA PRITAM—Defendant/Respondent

I.A. No. 579 of 1984 (in Suit No. 197 of 1984)—Decided on 13-11-1984.

Copy right—Book named 'Zindginama,' written by plaintiff, of general nature and book named 'Hardutt Ka Zindginama,' written by Defendant, being life of Hardutt—Subject matter of two books entirely different—Names of both authors appearing prominently on title cover—Both renowned writers—No infringement of Plaintiff's copy right by defendant and temporary injunction against defendant to be refused, balance of convenience being also in defendant's favour.

Held that the adoption of the title 'Hardutt Ka Zindginama' by defendant No. 1 for her book does not amount to infringement of the copyright (as assumed) of the plaintiff in the title 'Zindginama.' The titles of the two books are obviously different titles. The title of the book of defendant No. 1 clearly states that that book is the Zindginama i.e. life story of an individual namely, Hardutt, whereas the title 'Zindginama' by itself does not suggest if it is a life story of any particular person. The word 'Zindginama' although means the life story, yet, admittedly, the plaintiff's book does not narrate life story of any individual. The subject-matter of the two books are also admittedly entirely different. The name of Mrs Amrita Pritam defendant No. 1 as the author of her book is quite prominently given on the title cover, as also on the first two or three covering pages of her all publications in the three languages. As stated by me above, defendant No. 1 is also admittedly a renowned writer of Punjabi poetry and prose in her own right. The title of her book is true as to its contents. The book of the plaintiff comprises of 424 pages whereas the book of defendant No. 1 is much smaller in size and volume, having 143 pages in Hindi edition, 199 in Punjabi edition and 205 in Urdu edition. The style of writing the title in the book of the plaintiff and the three books of defendant No. 1 as also the colour-scheme

'Hardutt Ka Zindginama' written by defendant No. 1 and published by defendants No. 2 to 4 in different languages and restraining the defendants from publishing, advertising, marketing or selling the book 'Hardutt Ka Zindginama' or from passing off that book as the book 'Zindginama' written by the plaintiff. The plaintiff Mrs. Krishna Sobti is a well-known Hindi writer and has published a number of literary works to her credit. Her novel 'Zindginama' was published in the year 1979 whereof the plaintiff has the copyright. This work of the plaintiff received acclamation in the literary circles and the reading public. The book 'Zindginama' got the Sahitya Academy Award for Hindi literary work in the year 1980. The book also got Sahitya Shiromani Award given by the Language Department of the State of Punjab. The book is a narration in novel form about the saga of Punjab and deals with the dominant elements of life in the agrarian prepartition Punjab during 1900-1918, of its life (Zindgi) and time (Nama) and not about any particular individual. The case of the plaintiff is that upon receiving these awards the book acquired a secondary meaning and came to be associated with the plaintiff's name alone and the plaintiff has got copyright in the same. It is alleged that the plaintiff invented the title 'Zindginama' for her novel. The two parts of the title 'Zindginama' i.e. 'Zindgi' and 'Nama' are both independent Urdu/Persian words and have not been used in writings, nor are they to be found as composite one word in Persian, Urdu or Hindi dictionary. The word 'Zindgi' is of feminine and the word 'Nama' is of masculine gender and that the bringing together of these two words in the title 'Zindginama' is an odd construction and is in violation of linguistic convention. It was thus a unique and original title coined by the plaintiff.

2. Ms. Amrita Pritam, defendant No. 1, is admittedly a great poetess of repute. She has won the Sahitya Academy Award for poetry in the year 1956 and Gyanpeeth for poetry in the year 1980 (vide para 17 of the plaint). She, amongst others, has also stated in her written statement that she has got acclaim and recognition for her prose writings, as well as for her other literary work and has detailed a number of her prose works including novel and about the acclaim and recognition she has got for her literary works, both poetry and prose. Defendant No. 1 authored her book 'Hardutta Ka Zindginama' in Punjabi which was published in the year 1983 by Lau Prakashan, Amritsar, Defendant No. 4. It was later translated in other languages and was later published in Urdu and Hindi by defendants No. 2 and 3 respectively. Shri Hardutt is a living person hailing from Punjab. He is the only Indian revolutionary who served a sentence of imprisonment in Siberia. The book 'Hardutta Ka Zindginama' of defendant No. 1 gives a life account of Shri Hardutt. In the written statements and the replies to the application as filed by the defendants they controverted the material allegations of the plaintiff.

3. I proposed to pass a short order on the application. However, as lengthy arguments have been advanced in the case spread over a number of days and lot case law was cited on both the sides, I am passing this not too brief an order so as to briefly deal with the points raised in the arguments of the case. Mr. A K. Sen, learned Senior Advocate and later Mr. Mahinder Narain, learned counsel for the plaintiff, basing their case on the aforesaid allegations have contended that the title of the book 'Zindginama' was never used by any writer in India or elsewhere as the title of a book and it was an original, novel and unique title as coined by the plaintiff and this title has become associated with the book of the plaintiff in question and the plaintiff

has thus got a copyright in the title 'Zindginama' as the title of his or her book either singly as such or in combination with some other words for a book falling in the category of 'novels' which has some element of friction therein. The other contention of the plaintiff is that the impugned book of the defendants 'Hardutt Ka Zindginama' in Punjabi and its translation in Urdu and Hindi are likely to be confused as the book 'Zindginama' written by the plaintiff in Hindi or its translation in Punjabi or in Urdu, as the case may be, and some readers who want to read the book 'Zindginama' of the plaintiff are likely to be deceived and may take the book 'Hardutt Ka Zindginama' of defendant No. 1 as the book 'Zindginama' of the plaintiff i.e. that the book of defendant No. 1 is likely to be passed off as the book of the plaintiff.

4. The first question that arises for consideration is whether there can be a copyright in the title of a book as indicative of the particular work. In the case *Francis Day and Hunter Ltd.* v. *Twentieth Century Fox Corporation Ltd. and others*, AIR 1940 P.C. 55, it was held that as a rule a title does not involve literary composition and is not sufficiently substantial to justify a claim to protection. But that statement does not mean that in particular cases a title may not be on so extensive a scale and of so important a character as to be a proper subject of protection against being copied. Reference was made to an observation by Jessel M.R. in *Dicks* v. *Yates*, (1881)18 Ch. D. 76, that there might be copyright in a title "as for instance a whole page of title, or something of that kind requiring invention." Reference was also made to the observation of Lindley L.J. in *Licensed Victuallers Newspapers Co.* v. *Bingham*, (1889)38 Ch. D. 139, that *Dicks* v. *Yates* (supra) had virtually over-ruled *Weldon* v. *Dicks*, (1879)10 Ch. D. 247 on the said point. As against this judgment reliance was mainly placed on behalf of the plaintiff on the judgment in *Weldon* v. *Dicks* (supra). At page 260, it was observed in that case that the title of a book is a valuable property. It is a part of the book. One cannot read any book or turnover the title page without finding that the title is at the commencement of the book, Further that it is part of the book, and is as much the subject of copyright as the book itself. In that case it was held that Weldon plaintiff in that case had copyright in the title of the book "Trial and Triumph" as the assignee of its publisher and the title of the book as being a material portion of the work was held to be entitled to protection even though the impugned book published under the similar title was different in form and contents. There appears to be quite some controversy as regards the question as to the kind of title of a book in which its author can have copyright. *Weldon* v. *Dicks* (supra) has been somewhat differently interpreted in some later case law. It is also observed to have been virtually over-ruled in some cases, as already pointed out by me above. In *Licensed Victuallers Newspapers Co. Bingham* (supra), on the facts of the case it was held that a title to a weekly newspaper (as the case was) by user and reputation could not be acquired by its publication just for three days and with a very small sale. It was further held that the registration of such a publication under the copyright Act gave no exclusive right to such name of the weekly. Lindley L.J. in his short judgment in that case observed as below :

> "The Copyright Acts do not help them (plaintiff) for *Weldon* v. *Dicks*, 10 Ch. D. 247, on which they might have relied, is on this point over-ruled by *Dicks* v. *Yates*, 18 Ch. D. 76."

This observation, with respect, does not appear to be correct. I may, however, say that it cannot be said that *Weldon* v. *Dicks* (supra) was over-ruled or

dissented with after discussion in *Dicks* v. *Yates* (supra). It is, however, not necessary to record any finding on the question as to whether there can be a copyright in the title of the book alone as in the present case the real question for consideration is as to whether by adopting the title 'Hardutt Ka Zindginama' which includes the word 'Zindginama' defendant No. 1 has infringed the cogyright of the plaintiff in the title 'Zindginama' assuming her to be so having copyright in that title as part of her work. Before I deal with that it may be stated here that some material has been placed by the defendants on the record to show that the word 'Zindginama' was not invented by the plaintiff and was the title of some books in Punjabi and Persian in India and Iran prior to the publication of the plaintiff's book. There is a lot of controversy about this claim of the defendants as well. In that regard I may say that whereas the words 'Zindgi' and 'nama' are common words, the word 'Zindginama' no doubt does not appear to be a hackneyed or common word. However, the question as to whether the plaintiff has invented this word or there is any great originality involved in the coining of this word is certainly a contentious matter having regard to the material as placed by the defendants on the record in that regard.

5. Now reverting to the second question as stated above I am of the prima facie view that the adoption of the title 'Hardutt Ka Zindginama' by defendant No. 1 for her book does not amount to infringement of the copyright (as assumed) of the plaintiff in the title 'Zindginama.' The titles of the two books are obviously different titles. The title of the book of defendant No. 1 clearly states that that book is the Zindginama i.e. life story of an individual namely, Hardutt, whereas the title 'Zindginama' by itself does not suggest if it is a life story of any particular person. The word 'Zindginama' although means the life story, yet, admittedly, the plaintiff's book does not narrate life story of any individual. The subject-matter of the two books are also admittedly entirely different. The name of Ms. Amrita Pritam defendant No. 1 as the author of her book is quite prominently given on the title cover, as also on the first two or three covering pages of her all publications in the three languages. As stated by me above, defendant No. 1 is also admittedly a renowned writer of Punjabi poetry and prose in her own right. The title of her book is true as to its contents. The book of the plaintiff comprises of 424 pages whereas the book of defendant No. 1 is much smaller in size and volume, having 143 pages in Hindi edition, 199 in Punjabi edition and 205 in Urdu edition. The style of writing the title in the book of the plaintiff and the three books of defendant No. 1 as also the colour-scheme of the title pages of the book of the plaintiff and those of defendant No. 1 are entirely different. The thrust of the argument of Mr. Sen has been that the book of defendant No. 1 belongs to the same category of books as that of the plaintiff, namely, a novel and therefore, the book of defendant No. 1 for which the title in question has been adopted by the defendant No. 1 which includes the word 'Zindginama' is deceptively similar to the title of the plaintiff's book 'Zindginama' and as such amounted to infringement of copyright of the plaintiff therein. It impliedly means that there may not have been any infringement on the part of defendant No. 1 by adopting the title 'Hardutt Ka Zindginama' if that were written not as a novel, but in some other form e.g. poetry or some form other than novel. Mr. Sen was, however, unable to cite any authority in which such a view may have been expressed. As against this the following observations in the case *Weldon* v. *Dicks* (supra) which is the mainstay of the plaintiff's case itself (at prge 259) are quite instructive on the point :

"The matter came before me on the 19th of July upon a motion for an injunction, but I declined to interfere and I felt then, as I do now, that the dispute might have been readily settled if the defendant would adopt *a slight alteration in the cover of his book* No such argument, however, was come to, and the plaintiff, thinking that the case might have been disposed of upon interlocutory application, appealed from my decision. That application was unsuccessful, and the case now comes before me upon the hearing."

(Emphasis provided)

They are a pointer to the effect that in any case a slight difference in the title subsequently adopted by a writer from the title originally adopted by a writer in which the latter may have a copyright may not be open to attack of infringement of the latter's copyright in the title. In any case the question as to whether the title of the defendants' book amounts to infringement of the alleged copyright of the plaintiff in the title 'Zindginama' of her book is quite a contentions question which can properly be decided at the trial of the suit and it cannot be said that the plaintiff has got a good prima facie case in that record.

6. The position regarding the case of the plaintiff for passing off action is rather worse than the infringement action as brought out by the plaintiff. The adoption of certain words as the title of a novel might make a trade mark, and entitle the owner of the novel to say anyone else "You cannot sell another novel under the same title so as to lead the public to believe that they are buying my novel when they are actually being yours." However, I have already stated above some of the points of similarity in the books of the two authors. The defendants' book is the life story of Shri Hardutt. Therefore, the adoption of its title as 'Hardutt Ka Zindginama' is true to the subject-matter of the book and no cogent material has been placed on the record to show that the title of the defendants' book is a colourable imitation of the plaintiff's book or that there is any animus furandi on the part of defendant No. 1 in adopting the title of the plaintiff's book. Prima facie it does not appear that any reader of books would be misled so as to purchase the book of the defendants as the book of the plaintiff. It is also worth-nothing that that the plaintiff's only case is that the book of the defendants is likely to create confusion and deception on the part of readers who may be aware of the author of the book 'Zindginama' which has otherwise become well-known and renowned book so as to purchase the book of the defendants for the plaintiff's book. Further the plaintiff has not even alleged in the plaint if it has come to her knowledge from any source including her publishers if any customer has actually been so misled so far.

7. In view of what has been said above, in my opinion, the plaintiff has not been able to make out any case for the grant of a temporary injunction as prayed for by her in her favour. It may be stated here that the balance of convenience also seems to lie in favour of the defendants, inasmuch as the plaintiff is not going to suffer any irreparable loss if the injunction is not granted in her favour, as in case of her success in the suit she can be adequately compensated for by the impugned act of the defendants during the pendency of the suit. On the other hand, the grant of the temporary injunction would amount to virtually decreeing the suit of the plaintiff. The grant of the main relief of permanent, injunction would also give an unfair advantage to the plaintiff over the defendants inasmuch as the reputation and goodwill of defendant No. 1 is likely to suffer by the grant of the temporary injunction

of the title pages of the book of the plaintiff and those of defendant No. 1 are entirely different.

Held further that in any case the question as to whether the title of the defendants' book amounts to infringement of the alleged copyright of the plaintiff in the title 'Zindginama' of her book is quite a contentious question which can properly be decided at the trial of the suit and it cannot be said that the plaintiff has got a good prima facie case in that regard.

Held further that the adoption of its title as 'Hardutt Ka Zindginama' is true the subject-matter of the book and no cogent material has been placed on the record to show that the title of the defendants' book is a colourable imitation of the plaintiff's book or that there is any animus furandi on the part of defendant No. 1 in adopting the title of the plaintiff's book. Prima facie it does not appear that any reader of books would be misled so as to purchase the book of the defendants as the book of the plaintiff.

Held further that in the case of the plaintiff has not been able to make out any case for the grant of a temporary injunction as prayed for by her in her favour. It may be stated here that the balance of convenience also seems to lie in favour of the defendants, inasmuch as the plaintiff is not going to suffer any irreparable loss if the injunction is not granted in her favour, as in case of her success in the suit she can be adequately compensated for by the impugned act of the defendants during the pendency of the suit. On the other hand, the grant of the temporary injunction would amount to virtually decreeing the suit of the plaintiff. The grant of the main relief of permanent injunction, would also give an unfair advantage to the plaintiff over the defendants inasmuch as the reputation and goodwill of defendant No. 1 is likely to suffer by the grant of the temporary injunction when it cannot be said at this stage if the plaintiff is going to succeed in the suit. The application is accordingly dismissed. I need hardly say that the observations made in this order are purely for disposing of the plaintiff's application for the grant of temporary injunction and shall not prejudice the case of either side at the trial of the suit.

Cases referred

1. AIR 1940 P.C. 55.
2. (1881)18 Ch. D. 76.
3. (1889)38 Ch. D. 139.
4. (1879)10 Ch. D. 247.

Mr. A.K. Sen, Senior Advocate with *Mr. Mahinder Narain* and *Miss Zubeda Begum*, Advocates for the Petitioner.

Dr. L.M. Singhvi and *Mr. L.R. Gupta*, Senior Advocates with *Mr. Jagdish Trikha*, Advocate for the Defendant No. 1.

Mr. Anoop Singh with *Mr. H.P. Singh* and *Mr. Manmohan Singh*, Advocates for the Defendant Nos. 2 and 4.

JUDGMENT

H.C. Goel, J.—By this order I shall dispose of application of Mrs. Krishna Sobti plaintiff/applicant under Order 39 Rules 1 and 2 of the Code of Civil Procedure for the grant of ad interim injunction against the defendants directing them to delete the word 'Zindginama' from the title of the book

when it cannot be said at this stage if the plaintiff is going to succeed in the suit. The application is accordingly dismissed. I need hardly say that the observations made in this order are purely for disposing of the plaintiff's application for the grant of temporary injunction and shall not prejudice the case of either side at the trial of the suit.

Application dismissed

[Courtesy ~~India~~ Delhi Law Times 279]